ACKNOWLEDGEMENT

We sincerely express our gratitude to **“Teerthdham Mangalayatan”** from where we have sourced **“Dekho Ji Aadishwar Swami”**

“Teerthdham Manglayatan”have taken due care, However, if you find any typographical error, for which we request all the reader to kindly inform us at info@vitragvani.com or to “**Teerthdham Mangalayata**” at Info@mangalayatan.com

ॐ

नमः आदिनाथाय:

देखो जी आदीश्वरस्वामी...

श्रीमद् पद्मनन्दि आचार्य विरचित ऋषभस्तोत्र पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भक्तिरसपूर्ण प्रवचन

हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

प्रकाशन सहयोग :
श्री शैलेन्द्र, कैलाशचन्द्र चाँदवाड़ परिवार
कोटा, राजस्थान

प्रकाशक
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
मङ्गलायतन विश्वविद्यालय में आयोजित श्री आदिनाथ जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर

ISBN NO. -

न्यौछावर राशि : 15.00 रुपये मात्र

AVAILABLE AT -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN**
Sasni - 204216, Hathras (U.P.) India
e-mail : info@mangalayatan.com

— **PANDIT TODARMAL SMARAK BHAWAN**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur - 302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST,
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd.,
V.L. Mehta Marg, Vile Parle (W),
Mumbai - 400056
Ph. : 022-26130820, (Res.) 24015434
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **SHRI KUNDKUND KAHAN JAIN SAHITYA KENDRA**
Songarh (Guj.)

— **KUNDKUND PRAVACHAN PRASARAN SANSTHAN**
Chiman Ganj Mandi, Ujjain (M.P.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रण व्यवस्था :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

श्रीमद् पद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित भगवान श्री आदिनाथ जिनेन्द्र का भक्ति काव्य '**ऋषभ स्तोत्र**' पर हुए आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भक्तिरसपूर्ण प्रवचनों का सङ्कलन '**देखो जी आदीश्वरस्वामी...**' प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस प्रकाशन से पूर्व भी हमने विषापहार स्तोत्र पर हुए प्रवचनों का संकलन **विषापहार प्रवचन;** भक्तामर स्तोत्र पर हुए प्रवचन **भक्तामर रहस्य** का प्रकाशन किया है साथ ही दर्शनस्तोत्र पर हुए प्रवचनों का संकलन **जिनप्रतिमा जिनसारखी** नाम से भावनगर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया गया है, जो हमारे यहाँ उपलब्ध है। इस प्रकार अब पूज्य गुरुदेवश्री के स्तोत्र साहित्य पर उपलब्ध सभी प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं। जिनसे पूज्य गुरुदेवश्री के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के साथ-साथ देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति में समर्पित उनकी परिणति का परिचय प्राप्त होता है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् १९७८ की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया? क्या नहीं छोड़ा? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का

विष छोड़ा। तभी से लगातार ४५ वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश–विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार–प्रसार में संलग्न है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्पकाल में इस संस्था ने अनेक तत्त्वप्रचारात्मक गतिविधियों से सम्पूर्ण मुमुक्षु समाज के हृदय में अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है।

सत्साहित्य का प्रकाशन के क्रम में यह प्रस्तुत प्रकाशन सद्धर्म प्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए हमें हर्ष है।

ऋषभ स्तोत्र के इन प्रवचनों का गुजराती सङ्कलन तत्कालीन समय में सोनगढ़ से प्रकाशित सद्गुरु प्रवचन प्रसाद (हस्तलिखित दैनिक पत्रिका) में उपलब्ध है। जिनका सम्पादन एवं संकलन अमृतलाल नरसीभाई सेठ द्वारा किया गया है। इन प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण एवं सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ द्वारा सम्पन्न किया गया है, साथ ही इस विषय पर व्यापक स्पष्टीकरण करनेवाली प्रस्तावना भी उन्होंने लिखी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशनकर्ता के रूप में **श्री शैलेन्द्र, कैलाशचन्द्र चाँदवाड़ परिवार, कोटा** का सहयोग प्राप्त हुआ है तदर्थ आभारी हैं।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें — यही भावना है।

पवन जैन, तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रस्तावना

परम पूज्य दिगम्बर मुनिराज श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा विरचित 'ऋषभ स्तोत्र' पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचनों का प्रकाशन, **'देखो जी आदीश्वरस्वामी....'** जिनधर्म प्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

ऋषभ स्तोत्र एक भक्ति काव्य है, जिसमें इस युग के आदि तीर्थङ्कर भगवान श्री आदिनाथ की स्तुति की गयी है। इस भक्ति काव्य की सर्वाधिक विशेषता यह है कि इसमें तीर्थङ्कर भगवन्तों के पञ्च कल्याणक प्रसङ्गों को आधार बनाकर स्तुति की गयी है।

प्रस्तुत काव्य कोई स्वतन्त्र काव्य न होकर श्री पद्मनन्दिपञ्चविंशति ग्रन्थ के २६ अधिकारों में से तेरहवाँ अधिकार है। जिसमें ६० काव्य हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में, १. सिद्धस्तुति, २. जिनेन्द्र स्तवन, ३. सरस्वती स्तवन, ४. चौबीस तीर्थङ्कर स्तवन, ५. शान्तिनाथ स्तोत्र, एवं ६. ऋषभ स्तोत्र इस प्रकार कुल छह भक्ति काव्य समाहित हैं। जो आचार्य पद्मनन्दिदेव के अन्तःस्थल में व्याप्त वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के उछलती हुई भक्ति का परिचायक है। मुनिराजों की भूमिका में भी भक्ति का ऐसा तरल प्रवाह देखा जाता है।

वस्तुतः जैनदर्शन व्यक्ति-पूजा में नहीं, गुणों की पूजा में विश्वास रखता है। यही कारण है कि जैन साहित्य में उपलब्ध प्रायः सभी स्तुतियों में गुणों के माध्यम से ही अपने आराध्य की स्तुति या भक्ति की गयी है।

जैन आगम में भक्ति का स्वरूप दर्शानेवाले कुछ आगम-उद्धरण इस प्रकार हैं —

अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्ति।

अर्थात् अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय आदि बहुश्रुत सन्तों और जिनवाणी के प्रति भावों की विशुद्धिपूर्वक जो प्रशस्त अनुराग होता है, उसे **भक्ति** कहते हैं। *(– सर्वार्थसिद्धि, 6/24)*

अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः।

अर्थात् अर्हदादि के गुणों में प्रेम करना **भक्ति** है।

(– भगवती आराधना, 47/159)

मोक्खंगय पुरिसाणां गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं॥

अर्थात् जो जीव, मोक्षगत पुरुषों के गुणों के भेद जानकर, उनकी भी परमभक्ति करता है, उस जीव को व्यवहारनय से **निवृत्ति भक्ति** कही है। *(– नियमसार, गाथा 135)*

भक्ति पुनः सम्यक्त्वं भण्यते, व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनारूपा।

अर्थात् व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों के द्वारा पञ्च परमेष्ठी की आराधनारूप **सम्यक् भक्ति** होती है।

(– समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, 173-176)

निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्ध-रत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः।

अर्थात् निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-अवबोध-आचरण-स्वरूप शुद्ध रत्नत्रयपरिणामों का जो भजन है; वह **भक्ति** है, आराधना है — ऐसा उसका अर्थ है। *(– नियमसार तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा 134)*

भक्तिः पुनः निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टिनां शुद्धात्मतत्त्व-भावनारूपा चेति।

अर्थात् निश्चयनय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्ध आत्मतत्त्व की

भावनारूप **भक्ति** होती है। *(- समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, 173-176)*

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी धर्मात्माओं को, सविकल्पदशा में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाला गुणानुरागरूप प्रशस्तभाव, व्यवहारभक्ति है और स्वशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतरागभावरूप शुद्धपरिणति व शुद्धोपयोग निश्चयभक्ति है।

नियमसार के परम भक्ति अधिकार में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव एवं टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने निवृत्ति भक्ति का स्वरूप निश्चय-व्यवहारनयों से तीन गाथाओं में तथा योग भक्ति का स्वरूप चार गाथाओं में विस्तार से व्यक्त किया है, जो मूलरूप से पठनीय है।

आद्यस्तुतिकार आचार्य समन्तभद्र ने तो आप्त को नमस्कार करने से पूर्व उनमें आवश्यक गुणों की परीक्षा भी की है तथा जिनमें वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता विद्यमान हो, उन्हें ही आप्त के रूप में स्वीकृत किया है। आचार्यश्री का यह उपक्रम हमें परीक्षाप्रधानी होने की पावन प्रेरणा देता है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने अपनी सर्वाधिक लोकप्रिय कृति मोक्षमार्गप्रकाशक में पूज्यत्व का कारण दर्शाते हुए लिखा है —

'रागादि विकारों से व ज्ञान की हीनता से तो जीव निन्दायोग्य होते हैं और रागादिक की हीनता व ज्ञान की विशेषता से जीव स्तुतियोग्य होते हैं।' *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 4)*

इसी प्रकार का भाव पण्डित दौलतरामजी ने भी व्यक्त किया है —

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिके॥

(- छहढाला, मङ्गलाचरण)

इस प्रकार पूज्यत्व का कारण वीतराग-विज्ञानता ही है।

जैनमतानुसार ईश्वर अथवा आराध्य, वीतराग होने से न तो अपनी स्तुति से प्रसन्न ही होते हैं और न अपनी निन्दा से अप्रसन्न, फलतः वे अपने प्रशंसकों को अथवा निन्दकों को इष्टानिष्ट फल नहीं देते; बल्कि जो जीव उनका सही स्वरूप पहिचानकर, उनकी भक्ति-स्तुति करता है, वह भी उन जैसा बनने की प्रेरणा पाकर, तदनुसार पुरुषार्थ करके उस दशा को उपलब्ध कर लेता है।

वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा का आराधक, वीतरागता का ही उपासक होता है; इस कारण उसके द्वारा की जानेवाली स्तुति अथवा भक्ति में किसी भी प्रकार की लौकिक कामना निहित नहीं होती।

आचार्य उमास्वामी के मतानुसार उपास्य की उपासना का एकमात्र प्रयोजन **वन्दे तद्गुणलब्धये,** अर्थात् 'उन जैसे गुणों की प्राप्ति है'। किसी भी लौकिक प्रयोजन से की जानेवाली भक्ति में भोगों एवं संयोगों की रुचि निहित रहने से पाप का ही बन्ध होता है। उससे धर्म तो होता ही नहीं, पुण्य भी नहीं होता।

इस सन्दर्भ में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी का निम्न कथन विचारणीय है —

'अरहन्तादिक के नाम पूजनादिक से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर, रोगादिक मिटाने के अर्थ व धनादिक की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजादिक करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्वकर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्ता हैं नहीं। अरहन्तादिक की भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्वपाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहन्तादिक की भक्ति कही जाती है परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है, उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ; काँक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए, उनसे पूर्व पाप के संक्रमणादि कैसे होंगे ?'

(- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 222)

अन्य दर्शनों की भाँति जैनदर्शन, भक्ति को मुक्ति का कारण भी स्वीकार नहीं करता। भक्ति तो कुस्थान में राग के निषेध के लिए की जाती है।

इस सन्दर्भ में पण्डित टोडरमलजी कहते हैं —

'कितने ही जीव, भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। यह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं हैं। जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो; इसलिए अशुभराग छोड़ने के लिए ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग को बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते; शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं।' *(- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 222)*

इसी प्रकार का भाव पञ्चास्तिकाय में भी व्यक्त किया है —

इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। तीव्रराग-ज्वरविनोदार्थमस्थानरागनिषेधार्थं क्वचित् ज्ञानिनोपि भवति।

अर्थात् यह भक्ति केवल भक्ति ही है प्रधान जिनके, ऐसे अज्ञानी जीवों के होती है तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।

(- पञ्चास्तिकाय, गाथा 136)

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि जैनदर्शन में भक्ति को न तो मुक्ति का कारण माना गया है और न लौकिक भोगोपभोग सामग्री का प्रदाता। सचमुच में जिनेन्द्रदेव की भक्ति तो विषय-कषायरूप महा अशुभभाव से बचने के साथ-साथ स्वयं उन जैसा बनने के उद्देश्य से किया जानेवाला वह मन्दकषायरूप अनुष्ठान है, जो पुण्यबन्ध का कारण है तथा यदि जीव उस समय उन जैसा बनने के लिए शुद्धोपयोगरूप परिणमन करता है तो इस भक्ति के अनुष्ठान को निश्चयमोक्षमार्ग का साधक होने से परम्परा से मुक्ति का कारण भी कहा जाता है।

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने तो नियमसार की टीका करते हुए कलश 12 में यहाँ तक कहा है — 'भव के भय के भेदनेवाले इन जिनेन्द्र के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है ? तब तो तू भवसमुद्र के मध्य स्थित मगर के मुख में स्थित है।'

तार्किक चूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र तो आद्यस्तुतिकार के रूप में जाने ही जाते हैं। उनके द्वारा रचित भक्ति काव्यों में जहाँ भगवान के भरपूर गुणगान किये गये हैं, वहीं भगवान को परीक्षा की कसौटी पर कसने से भी वे नहीं चूके हैं।

सुप्रसिद्ध दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम समयसार, प्रवचनसार एवं पञ्चास्तिकाय के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने 'लघुतत्त्व स्फोट' नामक ग्रन्थ में चौबीस तीर्थङ्करों की अद्‌भुत स्तुति करते हुए उसमें जो तत्त्वज्ञान के मुक्ता-मोती बिखेरे हैं, वे अपने-आप में अद्‌भुत हैं एवं मूलतः पठनीय हैं।

इसी तरह जिनागम के रचयिता सभी भावलिङ्गी सन्तों ने यत्र-तत्र -सर्वत्र अपने ग्रन्थों में जिनभक्ति के स्वर गुञ्जायमान किये हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित प्रवचनसार परमागम में, मङ्गलाचरण की पाँच गाथाओं की टीका में, आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव ने ज्ञानी मुनिराजों के हृदय में उत्पन्न भक्तिभाव का कारण, उनकी भूमिका में विद्यमान कषायकण को माना है। साथ ही पञ्चास्तिकाय में तो अरहन्तादि के प्रति जिसका चित्त अनुराग से प्रेरित है, उसका निर्वाण अतिशय दूर है — ऐसा भी प्रतिपादित किया है। मूल गाथा इस प्रकार है —

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स॥

(- पञ्चास्तिकाय, गाथा 170)

सचमुच ही ज्ञानियों के जीवन की यह द्विरूपता आश्चर्यजनक सत्य है। एक ओर जहाँ वे भक्ति के राग को कषायकण या निर्वाण दूरतर है

— इत्यादि कहकर उपेक्षित करते हैं; वहीं दूसरी ओर रागात्मक भूमिका में भगवत् भक्ति से पराङ्गमुख जीवों को भवसमुद्र में डूबा हुआ कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रद्धा में राग को अत्यन्त उपेक्षणीय मानते-जानते हुए भी, जब तक सम्पूर्ण राग का अभाव नहीं हो जाता, ज्ञानीजनों को भी जिनेन्द्रभक्ति इत्यादि का शुभभाव आए बिना नहीं रहता।

यद्यपि शुभराग आना चारित्रिक कमजोरीरूप दोष है परन्तु शुभराग को उपादेय मानना तो विपरीत श्रद्धारूप महा-अपराध है। दोष क्षम्य हो सकता है; अपराध नहीं।

जिनेन्द्र भक्ति एवं ज्ञानीजनों की अन्तर्बाह्य परिणति के सन्दर्भ में ये सब ऐसे तथ्य हैं, जिन्हें ज्ञानीजनों की एक लम्बी परम्परा ने उद्घाटित किया है। उन्हीं ज्ञानीजनों की परम्परा के पुनीतप्रवाह में, वर्तमान सदी के महापुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अपने प्रवचन एवं तत्त्वचर्चाओं में इन सभी तथ्यों का आत्महितकारी तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत कर, मुमुक्षु जगत को धन्य कर दिया है।

इस प्रकार यहाँ भक्ति के सन्दर्भ में कुछ विचारणीय तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। विस्तार से जानने की अभिलाषावाले विज्ञपाठकों को जिनागम का गहन अभ्यास करना चाहिए।

निश्चयभक्ति के स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए समयसार गाथा 31 से 33 तक के प्रकरण पर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। ज्ञात हो कि पूज्य गुरुदेवश्री को भी उक्त गाथाएँ अत्यन्त प्रिय थीं और इन पर उन्होंने विस्तार से प्रवचन भी किये हैं, जिनका लाभ प्रवचनरत्नाकर अथवा प्रवचनों की सी.डी. / कैसेट के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

वर्तमान युग में समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों के हार्द को अपने मङ्गल प्रवचनों के माध्यम से सरलतम भाषा में प्रस्तुत करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने कई भक्तिपरक काव्यों पर भी भावविभोर

होकर प्रवचन किये हैं, जो उनके हृदय में विद्यमान जिनेन्द्रभक्ति के अमर स्मारक हैं। इस स्तोत्र के भावों को माध्यम बनाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने अध्यात्म की अलौकिक युक्तियाँ इसमें से निकाली हैं। गुरुदेवश्री के स्तोत्रों पर आधारित प्रवचनों में भक्तामर स्तोत्र, विषापहार स्तोत्र, ऋषभ स्तोत्र, जिनदर्शन स्तवन स्तोत्र एवं शान्तिनाथ स्तोत्र इत्यादि प्रमुख हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री के निश्चयपरक प्रवचनों के भरपूर प्रकाशन एवं व्यवहारपरक प्रवचनों का उस मात्रा में प्रकाशन न होने से, जनसाधारण में उनके प्रति इस प्रकार की भ्रान्त धारणा बलवान हो गयी कि स्वामीजी व्यवहार को उड़ाते हैं। जबकि सत्य तो यह है कि पूज्य गुरुदेव ही वर्तमान शताब्दी में निश्चयसापेक्ष व्यवहार के एकमात्र स्थापितकर्ता हैं। स्वयं उनके श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, अमृतझरना, विषापहार प्रवचन इत्यादि इसके सबल प्रमाण हैं।

इसी शृङ्खला की कड़ीरूप में ऋषभ स्तोत्र पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों को अनुवादित-सम्पादित कर प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रस्तुत प्रकाशन के सन्दर्भ में –

इस प्रवचन ग्रन्थ में मूल श्लोक, उसका पण्डित गजाधरलाल शास्त्री द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद और सद्गुरु प्रवचन प्रसाद में सङ्कलित **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के प्रवचन प्रकाशित किये गये हैं। साथ ही यथासम्भव प्रासङ्गिक चित्र भी दिये गये हैं।

इन अमूल्य प्रवचनों की अनुपम भेंट देकर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करनेवाले **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के प्रति एवं इन प्रवचनों के गुजराती सङ्कलनकार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इन सभी कार्यों के शक्तिप्रदाता परम उपकारी **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** ही हैं, उनका ही सबकुछ इस ग्रन्थ में है। साथ ही पूज्य

गुरुदेवश्री के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्तभूत अपने विद्यागुरु एवं पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त **पण्डित श्री कैलाशचन्द जैन, अलीगढ़** हैं, जिनके पावन चरणों में रहकर तत्त्वज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ है। अपने जीवनशिल्पी इन दोनों महापुरुषों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस सङ्कलन में विद्यमान सभी विशेषताएँ पूज्य गुरुदेवश्री की हैं और जो कुछ कमियाँ रहीं, उनका जिम्मेदार मैं अल्पज्ञ हूँ; अत: विज्ञपाठकों से यह अपेक्षा है कि वे कमियों की ओर ध्यान आकृष्ट करें, जिससे उनकी पुनरावृत्ति से बचा जा सके एवं आगामी संस्करण में उन्हें सुधारा जा सके।

सभी जीव इन प्रवचनों के द्वारा जिनभक्ति का सम्यक्स्वरूप पहिचान कर आत्मसन्मुखता प्राप्त करें — इस भावना से विराम लेता हूँ।

देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन

उनके सद्भाग्य की क्या बात!

अरे! दुनिया को कहाँ खबर है कि भगवान कैसे होते हैं! उन्हें तो उनके भक्त... साधक धर्मात्मा ही पहचानते हैं। एक उत्तम राजा भी पुण्यप्रकृति से कैसा सुशोभित होता है! तो यह तो तीन लोक के धर्मराजा तीर्थङ्कर.... उनके अन्तर में सर्वज्ञता का अतीन्द्रिय वैभव और बाहर में धर्मसभा का दिव्य वैभव, उनकी महिमा की क्या बात! जहाँ ऊपर से विमान में इन्द्र उतरते हैं और प्रभु-चरण में झुकते हैं; सिंह-बाघ जैसे तिर्यञ्च, शान्त होकर प्रभु के मुख को देखते हैं; मुनिराज, प्रभु की भक्ति करते हैं; रत्नों की वृष्टि होती है; अनेक जीव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करते हैं – साधारण पुण्यवाले जीवों को ऐसी बात देखने-सुनने को कहाँ से मिलेगी?

भगवान की ऐसी अचिन्त्य महिमा जिसके अन्तर में हो, उसके महासद्भाग्य की क्या बात! वह तो मानो मोक्ष के दरबार में आया है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

ॐ

॥ श्री आदिनाथाय: नम॥

देखो जी आदीश्वरस्वामी.....

(ऋषभस्तोत्र प्रवचन)

यह पद्मनन्दि पञ्चविंशति शास्त्र है। इसे पद्मनन्दि आचार्यदेव ने बनाया है। आचार्य पद्मनन्दि, वनवासी दिगम्बर सन्त थे। श्रीमद् राजचन्द्र ने इस शास्त्र को 'वनशास्त्र' शब्द से अलंकृत किया है। वन में रचा गया, अत: वनशास्त्र है।

इस ग्रन्थ में 26 अधिकार हैं। उनमें से यहाँ ऋषभदेव भगवान की स्तुति के अधिकार का वांचन चलता है।

देखो! वन में जब यह स्तुति की गयी, तब वहाँ साक्षात् ऋषभदेव भगवान विद्यमान नहीं थे। त्रिलोकीनाथ भगवान का वर्तमान में विरह होने पर भी, भक्तजन इस तरह स्तुति करते हैं मानो भगवान साक्षात् सामने ही बिराजमान हों। जिस तरह प्रिय पुत्र दूर-देशान्तर में विद्यमान हो, तथापि प्रेमवश उसके गुणगान किये जाते हैं; इसी तरह ज्ञानी समकिती धर्मात्मा को सर्वज्ञ भगवान प्रिय है, अत: भगवान के सिद्धलोक में बिराजमान होने पर भी, वह भक्ति के अनुरागवश अपने भाव में अत्यन्त निकटता स्थापित करके, भगवान की स्तुति करता है।

जिसे अन्दर में अनन्त ज्ञानादि स्वरूप आत्मस्वभाव का भान हुआ है और चारित्रादि दशा प्रगट हुई है, अर्थात् निश्चयस्वभाव की स्तुति प्रगट हुई है, वह जीव, शुभराग के काल में स्वभाव के अनुकूल निमित्तरूप सर्वज्ञदेव की पहिचान करके उनकी स्तुति करता है। यहाँ हमारी भक्ति के शुभभाव में यदि कोई अनुकूल निमित्त हैं तो वे सर्वज्ञदेव ही हैं।

समयसार की 31वीं गाथा में सर्वज्ञदेव की निश्चयस्तुति का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है :-

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणन्ति जे णिच्छिदा साहू॥

जिसे अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप की रुचि प्रगट हुई है, अर्थात् खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप भावेन्द्रिय; जड़ शरीररूप द्रव्येन्द्रिय तथा इन इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ - इन सबसे भिन्न एकाकार अखण्ड ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि प्रगट हुई है, वह निश्चयस्तुति है। इस प्रकार निश्चयस्तुतिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की स्तुति करते हुए उपचार से ऐसा कहा जाता है कि हे भगवान! आपने हमें मोक्ष दिया। यह कथन आरोपित होने पर भी व्यर्थ नहीं है क्योंकि अन्तर में निश्चय का विवेक है; अतः वह साधक, स्वभाव को मुख्य रखकर, स्वभाव में अनुकूल निमित्त की स्तुति करता है।

कैसी होती है साधकदशा ? और साधकदशा के लिए अनुकूल निमित्त कौन है ?

हे नाथ ! सर्वज्ञदेव के अतिरिक्त अन्य कोई हमारी साधकदशा के लिए अनुकूल निमित्त नहीं है।

जिस जीव को निज ज्ञानानन्दस्वभाव का भान नहीं है, अर्थात् जिसके अन्तर में निश्चयस्तुति प्रगट नहीं हुई है; जो मात्र निमित्त की ही मुख्यता करता है – ऐसे जीव को तो व्यवहारस्तुति भी नहीं है; निश्चयस्तुति तो है ही नहीं। तात्पर्य यह है कि उसके द्वारा की जानेवाली स्तुति पर तो व्यवहाररूप उपचार भी सम्भव नहीं है।

यहाँ तो जिनके अन्तर में ज्ञायकस्वभाव की मुख्यता की दृष्टि प्रगट हुई है – ऐसे वीतरागी सन्त, वन–जङ्गल में भगवान ऋषभदेव की स्तुति करते हैं। ऋषभदेव भगवान तो लाखों–करोड़ों वर्ष पूर्व इस भूमि पर हुए हैं और स्तुति करते समय भगवान की प्रतिमा भी सामने नहीं है, तथापि मानो सामने ही भगवान विराजमान हों, इस तरह भक्ति एवं अर्पणतापूर्वक स्तुति करते हैं।

हे नाथ! आपकी जय हो! हे सर्वज्ञनाथ! आपकी जय हो!! हे नाथ! आपको भले ही इच्छा नहीं है परन्तु हमने अपनी ज्ञानशक्ति का भान किया, उसमें आप निमित्त हो; आपने ही हमें मोक्षदशा प्रदान की है। सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, वह भी आपके प्रताप ही प्राप्त किया है और मोक्षदशा भी, हे नाथ! आपके ही प्रताप से प्राप्त करूँगा.... देखो, ऐसी स्तुति कौन करता है? जिसे आत्मस्वरूप का भान हुआ है और उसमें अनुकूल निमित्तरूप सर्वज्ञदेव को जिसने पहचाना है, वह स्तुति करता है।

जिन्हें पूर्ण ज्ञानानन्ददशा विकसित हो गयी है, जिन्हें रागादि नहीं है, अल्पज्ञता नहीं है – ऐसे सर्वज्ञ की स्तुति करते हुए यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि —

जय उसह णाहिणंदण

जय हो, नाभिनन्दन ऋषभदेव की!

अर्थात् यह भगवान, पुरुषरूप थे; शरीर पुरुष का था। उन्हें वाणी थी। ऋषभदेव और सीमन्धर भगवान इत्यादि किसी भी तीर्थङ्कर का नाम यहाँ लिया जा सकता है क्योंकि समस्त तीर्थङ्कर गुणरूप से समान हैं। इसलिए ऋषभदेव भगवान को सीमन्धर कहा जा सकता है और सीमन्धर भगवान को भी ऋषभ कहा जा सकता है। जो स्वरूप की मर्यादा में रहे हैं, वे सीमन्धर हैं; इसलिए ऋषभदेव भगवान भी सीमन्धर हैं।

यहाँ नाभिनन्दन कहकर गोत्र से शुरुआत की है। हे नाथ! आप नाभिनन्दन हो, आप नाभिराजा के पुत्र हो परन्तु हे नाथ! हमारे तो आप धर्मपिता हैं। जिसे आत्मा का भान हुआ है, वह सर्वज्ञदेव का लघुनन्दन है। हे प्रभु! आप नाभिनन्दन हो और मैं आपका लघुनन्दन हूँ।

देखो, यह स्तुतिकार, केवली नहीं; अपितु साधक हैं। जो केवली होते हैं, वे किसी की स्तुति नहीं करते हैं।

हे नाभिनन्दन ऋषभदेव! आपकी जय हो, अर्थात् आपके सर्वज्ञपद की जय हो। हमारी अल्पज्ञता का अभाव होकर हमें सर्वज्ञता प्राप्त हो।

देखो, यह भक्तियोग! ऐसा भक्तियोग, ज्ञानयोग के बिना नहीं होता है अथवा निश्चय के बिना व्यवहार भक्ति नहीं होती है। ● ●

काव्य १

यहाँ ऋषभदेव भगवान की स्तुति की है, वह तीर्थङ्कररूप में की है। उसमें पहले श्लोक में कहते हैं कि —

जय उसह णाहिणंदण तिहुवणणिलएक्कदीव तित्थयर।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि णाह॥

जय ऋषभ नाभिनन्दन त्रिभुवननिलयैकदीप तीर्थंकर।
जय सकलजीववत्सल निर्मलगुणरत्ननिधे नाथ॥

अर्थात् – श्रीमान् नाभिराजा के पुत्र; उर्ध्व, मध्य और अधोलोकरूपी घर के लिए दीपक तथा धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करनेवाले, हे ऋषभदेव भगवान! आप सदा इस लोक में जयवन्त रहो। समस्त जीवों पर वात्सल्य को धारण करनेवाले और निर्मल गुणोंरूपी रत्नों के आकर (खजाना) – ऐसे हे नाथ! आप सदा इस लोक में जयवन्त रहो।

काव्य पर प्रवचन

अहो, नाभिनन्दन श्री ऋषभदेव भगवान! कैसे हैं भगवान? उर्ध्व, मध्य और अधोलोकरूपी घर के दीपक हैं; धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करनेवाले हैं; समस्त जीवों के प्रति वात्सल्य धारण करनेवाले

हैं और निर्मल गुणरूपी रत्नों की खान हैं – ऐसे हे नाथ! आपकी जय हो!

हे नाथ! अज्ञानी जीव कहते हैं कि भगवान तीन लोक के कर्ता हैं.... परन्तु हे नाथ! आप तो तीन लोक के दीपक हो; आप तीन लोक को जाननेवाले हो। जो वस्तु 'है' – उसका कोई कर्ता नहीं होता परन्तु उसका ज्ञायक होता है। हे नाथ! हमारी आत्मा में साधकभावरूप जो निश्चयस्तुति प्रगट हुई है, उसके आप जाननेवाले हैं परन्तु आप उसके कर्ता नहीं हैं। मैं अपने सन्मुख आपको रखकर कहता हूँ कि हे भगवान! आप तीन लोक के दीपक हैं। हे नाथ! हम आपकी शरण में पड़े हैं। बालक की तरह आपके चरण में आकर लोट पड़े हैं। आपके चरण में ही मेरा कल्याण है। हे नाथ! हमने आपको निमित्त बनाया है।

देखो, स्तुति करनेवाले को अन्तरङ्ग में अपने गुण का भान है; इसलिए गुण को धारण करनेवाले दूसरों के प्रति भी उसे गुणानुराग आ जाता है।

हे नाथ! आप तीन लोकरूपी घर के दीपक हो। हे प्रभो! आपके ज्ञान की दिव्यता के समक्ष तीन लोक तो छोटे से घर के समान हैं। यहाँ विवेक की प्रधानतापूर्वक स्तुति करते हुए कहेंगे कि हे नाथ! आप हमारी मुक्ति के करनेवाले हो। प्रभो! आप तो

समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय के प्रकाशक हो। इस प्रकार प्रकाशक कहकर, फिर निमित्तरूप से धर्म के कर्ता हो - ऐसा कहते हैं।

हे प्रभु! हमें संसार से तिरने के लिए (निमित्तरूप) धर्मतीर्थ के आप कर्ता हो, इसलिए आप तीर्थङ्कर हो। यहाँ भगवान को तीन लोक का प्रदीप कहा है; इसलिए हे प्रभु! आप ज्ञानमूर्ति हो और निमित्तरूप से आप धर्मतीर्थ के प्रवर्तक हो। हम साधक हैं और धर्मतीर्थ में प्रवर्तमान हैं। चौथे, पाँचवें, छठवें, सातवें गुणस्थान में प्रवर्तमान धर्मात्मा, धर्मतीर्थ में प्रवर्तते हैं, उन्हें निमित्तरूप से भगवान, धर्मतीर्थ के कर्ता हैं। यह उपचार है परन्तु यह उपचार व्यर्थ नहीं है।

देखो, यह भक्ति! भक्ति में भी साथ ही सम्यग्ज्ञान की मूसलाधार वर्षा की है।

हे भगवान! हम अपने धर्मतीर्थ के कर्ता हैं, उसके आप प्रकाशक हैं और हमारी साधकदशा में आप निमित्त हैं। हमारा विकल्प आपके गुण की ओर ढलता है, इसलिए निमित्तरूप से आप ही हमारे धर्मतीर्थ के कर्ता हो।

देखो! धर्मी को ऐसी स्तुति का भाव आता है और ऐसी स्तुति की तरह दान इत्यादि का भी भाव आता है, जिसका वर्णन इसी ग्रन्थ के दान अधिकार में किया गया है।

आप तीन लोक के घर के दीपक हो - ऐसा पहले कहा, उसमें स्वयं भी आ गये - परन्तु फिर विशेष पृथक् करके कहते हैं कि हे नाथ! आप हमारे प्रकाशक होने के उपरान्त हमारे धर्मतीर्थ के कर्ता भी हो। हमने अपने में साधकभाव प्रगट करके आपको

हमारा निमित्त बनाया है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को तो आप वास्तव में निमित्त भी नहीं है। आचार्य समन्तभद्रदेव, भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे नाथ! मिथ्यादृष्टि और अभव्य जीव आपको नहीं पूज सकते हैं। आपकी स्तुति और भक्ति, राग की रुचिवाले मिथ्यादृष्टि नहीं कर सकते हैं। हे नाथ! आप हमारे धर्म-कर्ता हो।

हे नाथ! हे नाभि-नन्दन! आप जगत में जयवन्त वर्तो। जगत में बाधकभाव न रहो और मेरे आत्मा में साधकपर्याय है, वह भी बढ़कर पूर्ण साध्य - ऐसा केवलज्ञान प्रगट हो। इसलिए निमित्तरूप से मैं कहता हूँ कि हे नाथ! आप जयवन्त रहो। साधकभाव ही सदा प्रवर्तित रहा करे - ऐसा नहीं परन्तु साधकभाव से पूर्ण साध्यदशा प्रगट हो - ऐसी यहाँ स्तुतिकार की भावना है। साधकभाव, सर्वज्ञ को कहता है कि हे सर्वज्ञदेव! आपकी जय हो... जय हो। हमें अब हमारे स्वभाव के अवलम्बन से सर्वज्ञदशा प्रगट हो जानेवाली है। हे भगवान! आप सकल जीवों के प्रति वात्सल्यवाले हो।

चार संघ का जो धर्मतीर्थ है, उन्हें तो आप धर्मतीर्थ के कर्ता हो परन्तु दूसरे जीवों के प्रति... ? तो कहते हैं कि हे नाथ! आप तो समस्त जीवों के प्रति अकषाय करुणावाले हो। आपको तो समस्त जीवों के प्रति वात्सल्य है परन्तु अज्ञानी जीवों को आपकी करुणा झेलना नहीं आती। जो जीव आपके प्रति लक्ष्य करके धर्मतीर्थ में प्रवर्तते हैं, उन्हें तो आप निमित्त हो परन्तु अज्ञानी जीवों को आपकी करुणा झेलना नहीं आती है। आपको

तो समस्त जीवों के प्रति अकषायी / वीतरागी करुणा है। धर्मतीर्थ के प्रवर्तनेवालों के प्रति आपको राग नहीं है और दूसरे जीवों के प्रति आपको द्वेष नहीं है; आप तो समस्त जीवों के प्रति वात्सल्ययुक्त हैं। देखो! यह कहा वात्सल्य! सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग में जो वात्सल्य है, उसकी यह बात नहीं है। व्यवहारवात्सल्य का भाव तो शुभराग है। हे नाथ! हमारी साधकदशा में व्यवहारवात्सल्य है और आपको तो निश्चयवात्सल्य, अर्थात् अकषायभावरूप करुणा है।

अहो! आपको केवलज्ञान पर्याय प्रगट हुई, वह तो जगत के जीवों के समक्ष ढिंढोरा पीटती है कि अहो! समस्त जीवों का ऐसा ही परिपूर्ण स्वभाव है।

हे प्रभो! आप निर्मल गुणरूपी रत्नों की खान हो। एक समय में अनन्त गुणों की निर्मल पर्याय हुआ ही करे, फिर भी अन्तर के खजाने में आपको न्यूनता, अर्थात् कमी नहीं है। हे नाथ! भगवान आत्मा तो अनन्त गुणों की निधि है, उसके अवलम्बन से केवलज्ञान इत्यादि प्रगट होते हैं। देखो, यह भगवान की भक्ति! शिवपद हमको देना नाथ... शिव पद हमको देना! ऐसा स्तुति में बोलते हैं परन्तु शिवपद कहाँ से आता होगा? अन्तर में पहचानपूर्वक की यह स्तुति है। अन्तर में चैतन्य खजाना भरा है। हे नाथ! आप हमारी प्रगट हुई साधकदशा का रक्षण करनेवाले हो और नहीं प्राप्त केवलज्ञानादि दशा को प्राप्त करानेवाले हो; इसलिए आप हमारे नाथ हो। ऐसे हे नाभि-नन्दन नाथ! आप जयवन्त रहो। ● ●

काव्य २

सयलसुरासुरमणिमउडकिरणकब्बुरियपायपीढ तुमं।
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह॥

अर्थात् – समस्त जो सुर तथा असुर, उनके जो चित्र–विचित्र मणियों से सहित मुकुट, उनकी जो किरणों, उनसे कुर्वरित, अर्थात् चित्र–विचित्र हैं सिंहासन जिनका – ऐसे हे जिननाथ! जो मनुष्य आपको देखते हैं, आपकी स्तुति करते हैं तथा आपका जप और ध्यान करते हैं, वे मनुष्य धन्य हैं।

भावार्थ – हे जिनेन्द्र ! आपको बड़े–बड़े सुर–असुर भी आकर नमस्कार करते हैं, इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को आपके दर्शन का, आपकी स्तुति का, आपके जप तथा ध्यान का सुलभ रीति से अवसर नहीं मिल सकता, किन्तु जो मनुष्य ऐसे पुण्यवान हैं, जिनको आपका दर्शन मिलता है; आपकी स्तुति, जप और ध्यान का भी अवसर मिलता है, वे मनुष्य, संसार में धन्य हैं, अर्थात् उन मनुष्यों को धन्यवाद है।

काव्य पर प्रवचन

समस्त सुर असुर के मुकुटों की चित्र–विचित्र किरणों की प्रभा से जो रंग–बिरंगा है – ऐसे दिव्य सिंहासन पर विराजमान, हे

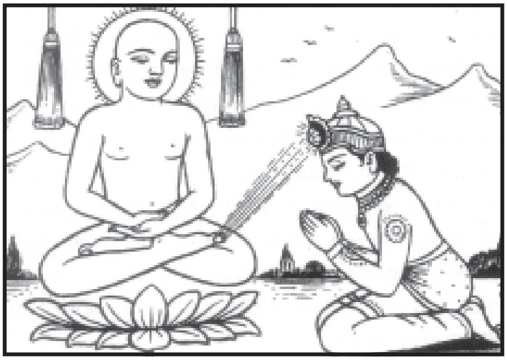

जिनेन्द्र नाथ ! जो मनुष्य आपको देखता है, आपकी स्तुति करता है और आपका जप व ध्यान करता है, वह मनुष्य धन्य है।

स्वभाव सिंहासन तो अन्तर की केवलज्ञानदशा में है और यहाँ तीर्थङ्कररूप में स्तुति की है, इसीलिए बाहर में सिंहासन इत्यादि वैभव की बात भी साथ ही की है।

हे नाथ ! आप तो पूज्य, आपके चरण तो पूज्य परन्तु जहाँ आप विराजमान हो – ऐसे सिंहासन की पादपीठ भी पूज्यनीय है। इन्द्र–इन्द्राणी भी आपके पादपीठ को पूजते हैं। इन्द्र–इन्द्राणी की सम्पदावाले भी, हे नाथ ! आपके चरण की स्तुति करते हैं। आपके चरण के समक्ष इन्द्र अपने वैभव को तुच्छ गिनता है।

हे नाथ ! आपका आत्मा तो उत्कृष्ट परन्तु आपकी बैठक भी उत्कृष्ट है। आप पटले पर नहीं विराजते हैं। कुम्हार के घर में अथवा यक्ष के मन्दिर में आप नहीं उतरते हैं। आप तो आकाश में उर्ध्वगमन करनेवाले हैं। आपके चरणों में नम्रीभूत इन्द्रों के मुकुट की किरणों से आपके दिव्य सिंहासन में रंग–बिरंगी प्रभा पड़ती है। ऐसे सुशोभित सिंहासन पर विराजमान, हे जिनेन्द्र ! जो भव्य जीव आपको देखते हैं, वे धन्य हैं। अन्तर में निश्चय भगवान को देखा, तब वस्तुतः भगवान को देखा कहा जाता है। अन्तर में निश्चयस्तुतिपूर्वक भगवान की स्तुति, वह व्यवहारस्तुति है। जप

और ध्यान में भी निश्चयपूर्वक के व्यवहार की बात है। भगवान के ध्यान में अकेले राग में एकाग्रता की बात नहीं है परन्तु अन्तर के भावसहित की बात है।

हे नाथ! दिव्य सिंहासन आपको ही होता है। ऐसे हे नाथ! आपको अन्तर के भावसहित जो देखता है-स्तुति करता है-जाप करता है तथा ध्याता है, वह मनुष्य धन्य है। यह मात्र राग की और निमित्त की बात नहीं है; इस स्तुति में भी मर्म है। जिसे अनेकान्त विवेक नहीं है, उसे सच्ची स्तुति नहीं होती है। अनेकान्त, वह सती है। वह स्व पति को ही माननेवाली है, इसलिए स्वभाव से ही लाभ माननेवाली है और एकान्त, वह असती-व्यभिचारिणी है, वह राग से और परद्रव्य से लाभ मानती है। ऐसा एकान्तवादी आपकी सच्ची स्तुति नहीं कर सकता है।

हे जिनेन्द्र! आपके सिंहासन के पुण्य के समक्ष इन्द्र का वैभव भी कहीं डूब जाता है, इसलिए इन्द्र इत्यादि भी आपकी स्तुति करते हैं। हे प्रभो! समस्त जीवों को आपकी स्तुति का-दर्शन का अवसर बारम्बार सुलभ रीति से नहीं मिल सकता है; इसलिए हे नाथ! स्वभाव का आदर करके हम आप पर रीझ जाते हैं। हे नाथ! जिसने आपका बहुमान किया, दर्शन किया, वह बालक हो या स्त्री हो, वह इस जगत में धन्य है।

इस श्लोक का तात्पर्य लेकर दूसरी जगह भी कहा है कि हे नाथ! अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूपी पुष्प द्वारा जिसने आपकी पूजा की है, उसे ऐसा पुण्य बँधता है कि वह परभव में इन्द्रादि होता है और उसे देवांगनाएँ प्राप्त होती हैं। देखो! देवांगनाओं की प्राप्ति,

वह गुण का फल नहीं है परन्तु साधकदशा में बीच में राग रहा है, उसका फल है। हे नाथ! स्वभाव की भक्ति में वीतरागता हुई, तदुपरान्त आपकी भक्ति में शुभराग हुआ, वहाँ ऐसा वैभव सहज प्राप्त हुए बिना नहीं रहता है। साधकदशा में ऐसे दोनों प्रकार होते हैं।

जिसके ज्ञान में और वैराग्य में पूर्ण परमात्मदशा रुचिगत परिणमित हुई है – ऐसा जीव, भगवान की वास्तविक स्तुति करता है। मिथ्यादृष्टि जीव, भगवान को वास्तविक नमस्कार या स्तुति नहीं कर सकता है। जिसे राग की रुचि है – ऐसा जीव, सर्वज्ञ को वन्दन नहीं कर सकता है परन्तु वह राग की ही स्तुति करता है। हे नाथ! आपको एक समय में जो पूर्ण परमानन्द केवलज्ञानदशा प्रगट हुई है, वैसी अनन्त ज्ञानानन्ददशा के आप भण्डार हो। जिसके ज्ञान में ऐसा चैतन्यस्वरूपी आत्मा नहीं आया, वह जीव, भगवान की वास्तविक स्तुति नहीं कर सकता है।

देखो! भावनिक्षेप में भगवान होवें तो भी ज्ञान का ज्ञेय है। स्थापनानिक्षेप से भगवान समक्ष विराजमान हों तो भी ज्ञान का ज्ञेय है। नाम और द्रव्यनिक्षेप से जो भगवान हैं, वे भी ज्ञान का ज्ञेय है परन्तु निक्षेप कब होता है? जब नय होते हैं तब; नय तो सम्यग्ज्ञान में ही होते हैं, इसलिए जिसे ज्ञानानन्दस्वभाव का सम्यग्ज्ञान नहीं है, उसे नय अथवा निक्षेप भी नहीं होते हैं; इसलिए उसे भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होती है।

हे जिनेन्द्र! आप जहाँ समवसरण में विराजमान हो, वहाँ आपका सिंहासन भी इन्द्रों द्वारा पूज्य हुआ। आप तो तीर्थस्वरूप हो और आपके प्रताप से सिंहासन भी तीर्थस्वरूप हुआ।

ऋषभदेव भगवान असंख्य अरबों वर्ष पहले इस भरतक्षेत्र में हुए हैं। अभी तो वे सिद्धरूप में विराजमान हैं परन्तु उन्हें वर्तमान में तीर्थङ्कररूप में समक्ष रखकर यहाँ स्तुति की गयी है। जिसे अन्तर में स्वभाव और राग के बीच में विवेक वर्तता है, उसे ही निमित्त में सर्वज्ञदेव और कुदेव के बीच विवेक वर्तता है। ऐसे जीव को सच्ची स्तुति होती है।

हे भगवान! जिसे अन्तर में स्वभाव की स्तुति प्रगट हुई है और विकल्प उत्पन्न होने पर आपका बहुमान करता है, पूजा करता है तथा भक्ति के प्रेमसहित आपको देखता है, उसे ऐसा पुण्य बँध जाएगा कि स्वर्ग में देवियाँ उसे प्रेम से देखेंगी और उसकी पूजा करेंगी। हे जिनेन्द्र! हम तो साधक हैं, बीच में ऐसा विकल्प उठता है, इसलिए हे नाथ! बीच में ऐसा संयोग तो आएगा परन्तु हमें उसका आदर नहीं है। हे नाथ! जितना विकल्प उत्पन्न होता है, उतना आपकी परमार्थ स्तुति में भंग पड़ता है, तथापि हे नाथ! दृष्टि में आपकी अखण्ड स्तुति बर्तती है।

देखो! यह भगवान की स्तुति! और वन्दन! एक बार भी ऐसा वन्दन करे तो वह तीन लोक में वन्दनीय होता है। कैसा वन्दन? पूर्व में अनन्त बार किया वैसा नहीं परन्तु सर्वज्ञता की अस्ति उसके ज्ञान में प्रविष्ट हुई है, इसलिए ज्ञानानन्दस्वभाव दृष्टि में आ गया है – ऐसे जीव को भक्ति का और वन्दन का विकल्प उठने पर ऐसा पुण्य बँध जाएगा कि तीन लोक में नहीं समायेगा। सम्यग्दृष्टि को साक्षात तीर्थङ्कर के समीप में बसते हुए कदाचित तीर्थङ्करनामकर्म भी बँध जाता है और वह तीन लोक में वन्दनीय होता है। अज्ञानी तो विकल्प की–राग की– व्यवहार की स्तुति

करता है; सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति वास्तव में वह करता ही नहीं। धर्मी को ही सर्वज्ञ की सच्ची स्तुति होती है। उसे बीच में पूजा-भक्ति का भाव आता है। उसे राग का आदर नहीं है परन्तु बीच में वैसा भाव आये बिना नहीं रहता है।

अहो! मानो कि भगवान साक्षात् सामने ही खड़े हों और भगवान का हाथ पकड़कर आचार्यदेव कहते हों – ऐसा अलङ्कार करके कहते हैं कि हे नाथ! आपकी सर्वज्ञता को जानकर, उस सर्वज्ञता के कारण ही हम आपको पूज्य मानते हैं परन्तु हे नाथ! आपकी इस समवसरण की विभूति के कारण ही हम आपको पूज्य नहीं मानते हैं। अहो नाथ! स्वभाव की महिमा की तो क्या बात? परन्तु आपकी सर्वज्ञता की महिमा लाकर जो उसका बहुमान – स्तुति करता है, वह भी धन्य है। सर्वज्ञता का अन्तर में ध्यान करते-करते आठ कर्मों का नाश हो जाएगा और वह परमेश्वर हो जाएगा।

हे नाथ! आपका ध्यान करनेवाला परमेष्ठीपद में मिल जाएगा और जगत के दूसरे जीव उसका ध्यान करेंगे। जहाँ चैतन्यस्वभाव में एकाग्र हुआ और स्थिर होकर परमेश्वर हुआ, उसका ध्यान दूसरे करेंगे। ● ●

काव्य ३

भगवान के दर्शन से होनेवाले आनन्द का वर्णन करते हुए स्तुतिकार कहते हैं —

चम्मच्छिणा वि दिट्ठे तइ तइलोये ण माइ महहरिसो।
णाणच्छिणा उणो जिण ण याणिमो किं परिप्फुरइ॥

अर्थात् – हे जिनेन्द्र! हे भगवान! यदि हम आपको चर्म की आँख से भी देख लें तो भी हमें इतना भारी हर्ष होता है कि वह हर्ष तीनों लोकों में नहीं समाता। फिर यदि आपको हम ज्ञानरूपी नेत्र से देखें, तब तो हम कह ही नहीं सकते कि हमें कितना आनन्द होगा?

भावार्थ – चर्म के नेत्र का विषय परिमित तथा बहुत थोड़ा है, इसलिए उस चर्म-नेत्र से आपका समस्त स्वरूप हमको नहीं दीख सकता, किन्तु हे प्रभो! उस चर्म-नेत्र से जो कुछ आपका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उससे ही हमें इतना भारी हर्ष होता है कि और की तो क्या बात? वह तीनों लोक में भी नहीं समाता, किन्तु यदि हम ज्ञानरूपी नेत्र से आपके समस्त स्वरूप को देखें, तब हम नहीं जान सकते कि हमें कितना आनन्द होगा?

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! अन्तर के अतीन्द्रिय नेत्र की तो क्या बात! परन्तु चर्म-चक्षु से आपका दर्शन करते हुए भी तीन लोक में समाहित न हो – ऐसा हर्ष होता है।

हे भगवान! अन्तर के अतीन्द्रिय चक्षु तो हमें खिले हैं, अन्तर की आँख में तो ज्ञानानन्दस्वभाव को देखा है, तब बाहर की आँख से सर्वज्ञ भगवान को देखते हुए भी हमें अत्यन्त आनन्द होता है। हे भगवान! आत्मा की परिणति में तो आपको परिपूर्ण शान्ति परिणमित हो गयी है, और आपकी देह भी उपशान्त हो गयी है। जगत के जितने शान्त परमाणु थे, वे सब आपके शरीररूप परिणमित हो गये हैं। पूर्व में अनन्त काल में नहीं प्रगट हुई थी – ऐसी अपूर्व आत्मदशा आपने प्रगट की है और पूर्व में अनन्त काल में कभी नहीं हुआ – ऐसा देह का संयोग आपको हुआ है। परमाणुओं में भी पूर्व में ऐसा परिणमन आपके आत्मा के संयोग में कभी नहीं हुआ था – ऐसी आपकी देह को चर्म-चक्षुओं से देखते हुए भी, हे नाथ! हमें ऐसा हर्ष और उल्लास उछलता है कि तीन लोक में समाहित नहीं होता। हे नाथ! आपको देखते ही केवलज्ञान का उल्लास उछलता है। मैं भी केवलज्ञान प्राप्त करूँगा और मेरी देह भी ऐसा हो जाएगी, तब तीन लोक में हमारा पुण्य नहीं समायेगा।

मिथ्यादृष्टि को क्या करना चाहिए? अन्तर में सच्ची समझ करना चाहिए। देखो, अज्ञानी को सच्ची भक्ति नहीं होती है और ज्ञानी को भक्ति का भाव आता ही नहीं है – ऐसा नहीं है। ज्ञानी को

ही भक्ति का यथार्थभाव आता है। यहाँ निश्चय-व्यवहार दोनों को साथ रखकर भक्ति की है।

हे नाथ! अन्तर में चैतन्यस्वभाव को अतीन्द्रिय चक्षु से देखने के आनन्द की तो क्या बात! परन्तु विकल्प उत्पन्न होने पर आपके प्रति लक्ष्य जाता है, वहाँ भी आनन्द का उल्लास आता है। देखो, जंगल में भगवान को उतारा है। हे नाथ! जरा नीचे पधारो, मुझे आपके साथ बात करनी है। जंगल में बैठे-बैठे सन्तों ने भगवान के साथ बातें की हैं।

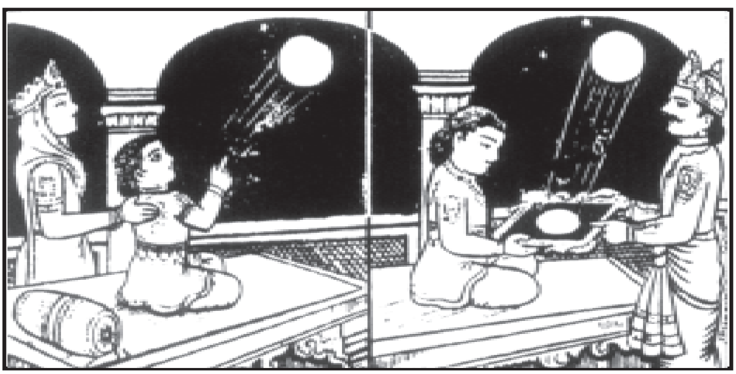

जब रामचन्द्रजी छोटे से बालक थे, तब एक बार चन्द्रमा देखते ही उसे हाथ में लेने का मन हुआ, ऊपर चन्द्रमा के समक्ष देखकर हाथ लम्बा करके वे रोने लगे। देखो, रामचन्द्रजी चरमशरीरी महापुरुष हैं, इसलिए विकल्प की हिलोर भी कैसी उठी है! पाठशाला की पुस्तक में भी आता था कि

'माँ मुझे चन्द्रमा प्यारा, यह मेरी जेब में डालो...'

रामचन्द्रजी तो किसी प्रकार से चुप नहीं रहते थे। अन्त में दीवान आने पर उनकी चेष्टा देखकर सब समझ जाता है कि यह

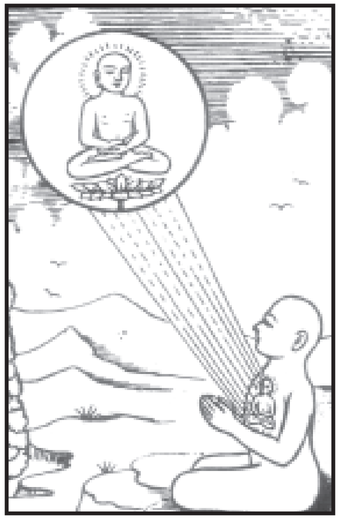

तो चन्द्रमा माँगता है, फिर एक स्वच्छ दर्पण लाकर रामचन्द्रजी के हाथ में देकर उसमें चन्द्रमा बतलाया और उसे देखते ही रामचन्द्रजी प्रसन्न हो गये।

इसी प्रकार यहाँ स्तुति करते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि हे नाथ! आपको अपनी आत्मा में अन्दर उतारता हूँ। आप तो सिद्ध हो गये हैं, आप कहीं भव धारण करके यहाँ पधारनेवाले नहीं हैं परन्तु हे नाथ! अपने ज्ञानदर्पण में आपको स्थापित करके मैं सिद्ध होकर आपके पास आऊँगा, इस प्रकार यह अलंकार से भावपूर्वक स्तुति की गयी है। ● ●

मुक्तदशा प्राप्ति की विधि

निश्चय से देखा जाए तो ये सभी नाम भगवान चैतन्यधातु के हैं। ध्रुव चिदानन्द आत्मा ज्ञान-आनन्दादि अनन्त-अनन्त गुणों की खान है। यह वास्तव में चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुम्भ, सिद्धरस, महामन्त्रादि सबकुछ है। ये सब वास्तव में आत्मा को ही लागू पड़ता है। ऐसी पहिचान जिसे होती है, उसके संसार का अल्पकाल में ही अभाव हो जाता है और उसे मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है। *-विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-53*

काव्य ४

अब, चौथे श्लोक में स्तुतिकार अपनी निर्मानता बतलाते हुए कहते हैं –

तं जिण णाणमणंतं विसईकयसयलवत्थुवित्थारं।
जो थुणइ सो पयासइ समुद्दकहमवडसालूरो॥

अर्थात् – हे जिनेन्द्र! जो पुरुष, नहीं है अन्त जिसका तथा जिसने समस्त वस्तुओं के विस्तार को विषय कर लिया है – ऐसे ज्ञानस्वरूप आपकी स्तुति करता है, वह कुएँ का मेंढक समुद्र की कथा का वर्णन करता है।

भावार्थ – जिस प्रकार कुएँ का मेंढक समुद्र की कथा नहीं कर सकता, उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! जो पुरुष ज्ञानस्वरूप आपका स्तवन तथा आपको नमस्कार नहीं करता, उसका ज्ञान समस्त पदार्थों का विषय करनेवाला नहीं होता किन्तु जो मनुष्य आपकी भक्तिपूर्वक स्तुति करता है, उसको विस्तृत ज्ञान की प्राप्ति होती है।

काव्य पर प्रवचन

हे नाथ! जैसे, कोई समुद्र का माप बतलाने जाए तो वह बतला नहीं सकता; इसी प्रकार छद्मस्थ के ज्ञान से आपकी स्तुति

का पार नहीं आता। हे भगवान! कहाँ आपका केवलज्ञान और कहाँ मेरी अल्पज्ञता!

हे नाथ! मैं विकल्प से आपकी परमात्मदशा की स्तुति करने खड़ा हुआ हूँ परन्तु विकल्प से आपकी स्तुति का पार नहीं आता। जब विकल्प तोड़कर स्वरूप में स्थिर होऊँगा, तब आपकी स्तुति पूरी होगी परन्तु हे प्रभु! आपके बहुमान का भाव उत्पन्न हुआ, उस भक्ति का बल हमें बलजोरी से स्तुति कराता है।

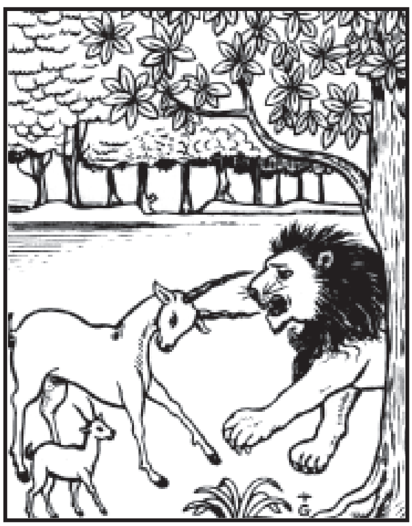

भक्तामरस्तोत्र में कहते हैं कि हे नाथ! मृगी में सिंह को पहुँचने का बल नहीं है परन्तु प्रिय बच्चे को बचाने के लिए बच्चे के प्रेमवश क्या वह सिंह के सामने नहीं होती? होती है; इसी प्रकार हे नाथ! आपके बहुमान का भाव आने पर हम आपकी स्तुति करते हैं। ● ●

काव्य ५

अब, इस श्लोक में नामनिक्षेप लेकर स्तुतिकार कहते हैं —

अम्हारिसाण तुह गोत्तकित्तणेण वि जिणेस संचरइ।
आएसं मग्गंती पुरओ हियइच्छिया लच्छी॥

अर्थात् – हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आपके नाम के कीर्तनमात्र से ही हम सरीखे मनुष्यों के आगे आज्ञा को माँगती हुई मनोवाञ्छित लक्ष्मी गमन करती है।

भावार्थ – हे जिनेन्द्र! आपके नाम में ही इतनी शक्ति है कि आपके नाम के कीर्तनमात्र से ही हम सरीखे मनुष्यों के सामने हमारी आज्ञा को माँगती हुई लक्ष्मी दौड़ती फिरती है। तब जो मनुष्य साक्षात् आपको प्राप्त कर लेगा तो फिर उसकी बात ही क्या है? अर्थात् उसको तो अवश्य ही अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग लक्ष्मी की प्राप्ति होगी।

काव्य पर प्रवचन

नामनिक्षेप, वह नय का विषय है और नय, सम्यग्ज्ञान का प्रकार है। ज्ञानी को ही नामनिक्षेप का यथार्थ ज्ञान होता है।

हे नाथ! हमें स्वभाव के भानसहित, अर्थात् स्वभाव का भान होने से संयोग की रुचि मिट गयी है और आपके नाम-स्मरण का भाव आया है तो उसमें भी ऐसा पुण्य बँध जाएगा कि इच्छा के बिना ही सहज इन्द्रादिक पद की विभूति सामने आकर खड़ी रहेगी। देखो, मिथ्यादृष्टि तो वैभव प्राप्त करने जाता है, उसे उत्कृष्ट पुण्य नहीं होता; सम्यग्ज्ञानी को वैभव की इच्छा नहीं है, फिर भी ऐसा पुण्य बँध जाता है कि जहाँ जन्म लेगा, वहाँ निधान पकेंगे। समुद्र में करोड़ों मोती पकेंगे - इसी प्रकार लक्ष्मी उसके समक्ष आकर खड़ी रहेगी, उसका फल माँगना नहीं पड़ेगा। हे भगवान! आपके नाम नमस्कार का भी ऐसा फल, तो फिर आपके साक्षात् दर्शन की तो क्या बात! अज्ञानी को तो पुण्य का कुछ विवेक नहीं है, और वह बलजोरी से जगत में मान प्राप्त करना चाहता है। धर्मी को पुण्य का आदर नहीं है, फिर भी उसे भक्ति में ऐसा पुण्य बँध जाता है कि मनवाँछित लक्ष्मी / सम्पत्ति आकर खड़ी रहेगी।

हे नाथ! अन्तर में तो वीतराग चिदानन्दस्वभाव को ही आगे रखा है, उसका ही आदर है और आपके बहुमान का भाव उत्पन्न होने पर 'नमो ऋषभाय, नमो सीमन्धराय' ऐसा नाम लिया, वहाँ भी उत्कृष्ट पुण्य बँध जाएगा। जिसने अन्तर में आत्मानन्द का निर्दोष सर्वज्ञपद पहचानकर अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा किया है, उसे ही उनका सच्चा स्मरण आता है। अज्ञानी, भगवान का नाम लेकर जप करता हो परन्तु अन्दर में तो राग का आदर वर्तता है; इसलिए वास्तव में उसे भगवान के नाम का स्मरण नहीं है। भगवान के

अतिरिक्त दूसरे का नाम न लेता हो परन्तु अन्दर में राग का आदर है, वह वास्तव में भगवान का भक्त नहीं है।

भगवान की भक्ति करते-करते, इस राग से धीरे-धीरे धर्म होगा तथा पुण्य बँधेगा, उससे स्वर्ग का वैभव भी प्राप्त होगा - ऐसी जिसकी भावना है, उसकी भक्ति में दम नहीं है, उसे सच्ची भक्ति नहीं है। यहाँ तो स्वभाव के भानसहित की भक्ति की बात है।

हे नाथ! हम अन्तर में तो सर्वज्ञ के लघुनन्दन हैं और बाहर में पुण्य का विकल्प उत्पन्न होने पर ऐसे वैभव के ढेर होंगे कि लोग लक्ष्मीनन्दन कहेंगे। इस प्रकार कहकर यहाँ भगवान की स्तुति और बहुमान किया गया है तथा साधकदशा का पुण्य भी बताया गया है। ● ●

परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

'कर्म, जीव को चतुर्गति में ले जाते हैं' — यह कथन जीव एवं कर्म के बीच परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि से किया जा रहा है किन्तु ज्ञाता-दृष्टा जीवस्वभाव की दृष्टि से तो जीव का गतियों में आना-जाना है ही नहीं। जीवस्वभाव तो अनादि संसार में वैसा का वैसा ही रहा है। जैसे चलती हुई घड़ी के झूलते हुए घन्टे पर कोई मक्खी बैठी है तो घन्टे के घूमते समय ऐसा लगता है कि मक्खी भी घूम रही है किन्तु उस समय वस्तुतः मक्खी तो जहाँ है, वहीं है; फिरनेवाला तो घड़ी का घन्टा है, मक्खी नहीं। *- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-43*

काव्य ६

अब कहते हैं कि हे भगवान आपके बिना अकेले पुण्य की शोभा नहीं है —

जासि सिरी तइ संते तुव अवयणमित्तियेणट्ठा।
संके जणियाणिट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धावि॥

अर्थात् – हे सर्वज्ञ! हे जिनेश! जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि विमान में थे, उस समय जैसी उस विमान की शोभा थी, वह शोभा आपके इस पृथ्वी–तल पर उतरने के बाद, आपके वियोग से उत्पन्न हुए दुःख से नष्ट हो गयी – ऐसी मैं (ग्रन्थकार) शङ्का (अनुमान) करता हूँ।

भावार्थ – हे भगवान! आप में यह एक प्रकार की विशिष्टता विद्यमान है कि जहाँ आप निवास करते हैं, वहीं उत्तम शोभा भी रहती है क्योंकि जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि नाम के विमान में विराजमान थे, उस समय उस विमान की बड़ी भारी शोभा थी, किन्तु जिस समय आप इस पृथ्वी–तल पर उतरकर आये, उस समय उस विमान की भी उतनी शोभा नहीं रही, बल्कि इस पृथ्वी तल की शोभा अधिक बढ़ गयी।

काव्य पर प्रवचन

हे सर्वज्ञ! जब आप सर्वार्थसिद्धि विमान में विराजमान थे, तब आपके प्रताप से उस सर्वार्थसिद्धि के विमान की जैसी शोभा थी, वह शोभा अब आपके पृथ्वीतल पर आने से, अर्थात् आपके वियोग से उत्पन्न हुए दुःख के कारण नष्ट हो गयी है – ऐसा मैं मानता हूँ। अहो! आपके बिना सर्वार्थसिद्धि के विमान की भी शोभा नहीं है। हे नाथ! आपकी शोभा के समक्ष सर्वार्थसिद्धि के विमान की शोभा हमें नहीं लगती है। हे नाथ! आपके यहाँ आने से इस पृथ्वी की शोभा तो बढ़ गयी और सर्वार्थसिद्धि की शोभा घट गयी है।

देखो, दिगम्बर सन्तों ने जंगल में अलौकिक अमृत घोंटा है। हे भगवान! हम साधक हैं; आपकी भक्ति के प्रताप से विशिष्ट पुण्य बँधेगा और देवलोक में जाऊँगा परन्तु हे नाथ! देवलोक की शोभा तो आपके कारण से है। चैतन्य की शोभा से देवलोक की शोभा है। हे भगवान! आप देवलोक छोड़कर मनुष्यलोक में आये वहाँ, आपके बिना देवलोक की शोभा घट गयी है। देखो, अच्छी से अच्छी शाल हो परन्तु वह कहीं मुर्दे पर शोभित नहीं होती, मुर्दे पर शाल से शोभा नहीं होती। हे नाथ! हम तो अपनी चैतन्य की शोभा को साथ लेकर देवलोक में जाएँगे। देवलोक से हमारी शोभा नहीं है परन्तु हमारे चैतन्य की शोभा से देवलोक की शोभा है।

जब आप सर्वार्थसिद्धि विमान में थे, तब आपके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के कारण वह शोभित होता था परन्तु जहाँ आप

वहाँ से इस पृथ्वी पर पधारे, वहाँ इस पृथ्वी की शोभा, सर्वार्थसिद्धि से भी बढ़ गयी है।

देखो, यहाँ से स्तुति की शुरुआत करके ठेठ केवलज्ञान तक ले जाएँगे। सर्वार्थसिद्धि पूर्व भव है। आत्मा है, आत्मा में केवलज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य है, इन सबकी प्रतीतिसहित यह स्तुति है।

ऋषभदेव भगवान पूर्व भव में सर्वार्थसिद्धि में थे, वहाँ से यहाँ पधारे हैं, इसलिए उन्हें याद करके स्तुति की है।

धर्मात्मा वास्तव में तो अपने ज्ञानस्वभावी चैतन्य तेज की ही स्तुति करता है। जिसे ज्ञानानन्दस्वभाव का भान नहीं है, उसके हृदय में सर्वज्ञ की सच्ची स्तुति नहीं होती है। यहाँ स्तुतिकार अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के भानसहित सर्वज्ञ भगवान ऋषभदेव को अपने सन्मुख रखकर कहते हैं कि हे नाथ! पूर्व भव में आपको आत्मा का भान था, तब राग से तीर्थङ्करनामकर्म बँधा था और आप सर्वार्थसिद्धि में गये, तब आपके कारण ही सर्वार्थसिद्धि की शोभा थी और आप वहाँ से यहाँ पधारे, तब सर्वार्थसिद्धि की शोभा घट गयी है।

हे भगवान! आत्मा की पवित्रता के बिना हमें पुण्य की शोभा नहीं लगती है। हे भगवान! आपकी आत्मा की पवित्रता के कारण ही सर्वार्थसिद्धि की शोभा थी। सर्वार्थसिद्धि विमान तो ऐसा का ऐसा शाश्वत है परन्तु यहाँ तो यह बतलाना है कि पुण्य की महिमा नहीं; आत्मा की पवित्रता की महिमा है। ● ●

काव्य ७

अब, सर्वार्थसिद्धि में से यहाँ भगवान अवतरित हुए, तब इस पृथ्वी का नाम वसुन्धरा पड़ा – ऐसा कहते हैं —

णाहिघरे वसुहारावडणं जं सुइर महितहो अरणी।
आसि णहाहि जिणेसर तेण धरा वसुमयी जाया॥

अर्थात् – हे जिनेश्वर! जिस समय आप इस पृथ्वीतल पर उतरे थे, उस समय जो नाभि राजा के घर में बहुत काल तक धन–वर्षा आकाश से हुई थी, उसी से हे प्रभो! यह पृथ्वी वसुमती हुई है।

भावार्थ – पृथ्वी का एक नाम वसुमती है। जो धन को धारण करनेवाली होवे, उसी को वसुमती कहते हैं। इसलिए ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस पृथ्वी का नाम वसुमती जो पड़ा है, वह भगवान! आपकी कृपा से ही पड़ा है क्योंकि जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि विमान से पृथ्वी–मण्डल पर उतरे थे, उस समय बराबर पन्द्रह मास तक रत्नों की वृष्टि इस पृथ्वी–मण्डल पर नाभि राजा के घर में हुई थी, इसलिए पृथ्वी के समस्त दारिद्रय दूर हो गये, किन्तु इससे पूर्व इसका नाम वसुमती नहीं था।

काव्य पर प्रवचन

अब, भगवान गर्भ में आते हैं, तब रत्नवृष्टि होती है, उसमें अलंकार करके आचार्यदेव स्तुति करते हैं।

हे भगवान! आप नाभिराजा के घर, माता मरुदेवी की कूख में पधारे, तब बहुत काल तक (पन्द्रह महीनों तक) देवों ने आकाश में से रत्नों की वर्षा की थी, इससे इस पृथ्वी का नाम वसुमती पड़ा। भगवान, माता के गर्भ में आनेवाले हों, तब से छह माह पूर्व देव, रत्नवर्षा करते हैं, देवियाँ आकर माता की सेवा करती हैं, माता का गर्भ साफ करती हैं। हे नाथ! पहले तो इस पृथ्वी की शोभा नहीं थी परन्तु आप इस पृथ्वी पर पधारे, तब से इस पृथ्वी की शोभा स्वर्ग से भी बढ़ गयी है।

देखो, धर्मात्मा जहाँ हों, वहाँ धर्म को ही देखते हैं। हे भगवान! सर्वार्थसिद्धि में भी हम तो आपकी पवित्रता की ही शोभा देखते थे और हे नाथ! यह पृथ्वी रंक थी परन्तु जब आप पधारे, तब आपके धर्म की शोभा के कारण इस पृथ्वी की शोभा भी बढ़ गयी।

अहो! ऐसे त्रिलोकनाथ तीर्थंकर भगवान का अवतार ब्राह्मण इत्यादि सामान्य घर में नहीं होता। ब्राह्मणी के गर्भ में भगवान महावीर पधारे और फिर बयासी दिन बाद इन्द्र ने आकर वह गर्भ परिवर्तन करके त्रिशला माता के गर्भ में स्थापित किया – ऐसा अज्ञानी कहते हैं परन्तु यह बात झूठ है।

अहो! अभी तो भगवान, माता के गर्भ में आने से पूर्व आकाश में से रत्न बरसने लगे। हे भगवान! हमें तो आपके कारण ही इस पृथ्वी की शोभा लगती है। तीर्थङ्कर का आत्मा, वैराग्य का विकल्प

उत्पन्न होते ही दीक्षा लेता है, फिर कोई वर्षी-दान देने के लिए रुकता नहीं है। भगवान को वैराग्य का विचार होते ही, ब्रह्मर्षिदेव (लौकान्तिकदेव) आकर स्तुति करते हैं तथा वैराग्य-सम्बोधन करते हैं कि हे भगवान! आपने उत्तम विचार किया! तत्पश्चात् तुरन्त ही भगवान दीक्षा लेते हैं। अहो! चैतन्य-ज्योत आत्मा की लक्ष्मी से ही सच्ची शोभा है। अज्ञानी कहता है 'वसु बिना नर पशु' परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि जिसे आत्मा की शोभा का पता नहीं है, और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानरूपी लक्ष्मी जिसे प्रगट नहीं हुई है, वह जीव पशु जैसा है। समकिती ने अपना चिदानन्द भगवान अन्तर में देखा है, इसलिए जहाँ देखता है, वहाँ भगवान ही देखता है। स्तवन में भी आया था कि –

मैं तो जहाँ जाऊँ वहाँ देखूँ मेरा नाथ
ऐसे नाथ मेरे हृदय में नित्य वसो रे...।

देखो, यह भक्त की सच्ची भक्ति!

'हरता फरता प्रगट हरि देखूँ रे....'

यहाँ (सोनगढ़ में) तो जहाँ देखों वहाँ भगवान! सर्वत्र सीमन्धर भगवान... जिनमन्दिर में सीमन्धर भगवान... समवसरण में देखो तो सीमन्धर भगवान और मानस्तम्भ में भी चारों दिशाओं में ऊपर -नीचे सीमन्धर भगवान। अहो! चारों ओर सीमन्धर भगवान को ही देखता हूँ। हे भगवान! अन्तर में तो चैतन्यशक्ति की प्रतीति हुई है और बाहर में आपको ही देखता हूँ। हे नाथ! आपको तो पूर्णानन्द प्रगट हो गया है। हम तो आपके दास हैं, आपकी शरण में हमारा जीवन है।

हे भगवान! आपके कारण ही सम्पूर्ण पृथ्वी की शोभा है। हे भगवान! आप तो इस चौबीसी में भरतक्षेत्र के आदि तीर्थङ्कर हो परन्तु वस्तुरूप से आपकी आदि नहीं है, आप तो अनादि हो। अन्तर में चिदानन्दस्वभाव शक्तिरूप विद्यमान है, उसकी प्रतीति के बिना सब व्यर्थ है। दूसरी बात से लाभ मनवावे, वह वीतराग का भक्त नहीं, वह वीतराग भगवान को पहचानता नहीं है।

अहो! तीर्थङ्कर की पवित्रता तो अलौकिक है और उनके उत्कृष्ट पुण्य की भी क्या बात! ऐसे तीर्थङ्कर भगवान को केवलज्ञान होने के बाद शरीर में रोग इत्यादि हों – ऐसा नहीं हो सकता है।

हे भगवान! आपके अवतार से हमारा दारिद्र तो दूर हुआ ही; साथ ही सारी पृथ्वी का दारिद्र भी दूर हुआ। ● ●

स्वभाव की निरपेक्षता

हे प्रभु ! अन्य देव पापसहित हों, अथवा पापरहित; उनके दोष–वर्णन से आपकी गुणयुक्तता नहीं है। आप तो स्वभाव से ही महिमायोग्य हैं। सागर की विशालता –अगाधता स्वभाव से ही है, न कि तालाब एवं कुआँ की लघुता वर्णन के कारण। सागर तो स्वभाव से ही विशाल एवं अगाध है।

हे भगवान ! हम दूसरों के दोष बतलाकर, आपके गुण सिद्ध नहीं करना चाहते; क्योंकि आप तो सभी से निरपेक्ष हैं। जब विकारी पर्याय का होना भी निरपेक्ष है, तब स्वभाव की निरपेक्षता का तो कहना ही क्या ?

– विषापहार प्रवचन, पृष्ठ–40

काव्य ८

अब, भगवान की माता को स्मरण करते हुए कहते हैं —

सच्चियसुरणवियपया मरुएवी पहु ठिऊसि जं गब्भे।
पुरऊ पट्टो बज्झइ मज्झे से पुत्तवंत्तीणं॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! आप मरुदेवी माता के गर्भ में स्थित हुए थे, इसलिए मरुदेवी माता, इन्द्राणी तथा देवों से नमस्कार किए गए हैं चरण जिसके – ऐसी हुई; अत: जितनी पुत्रवती स्त्रियाँ थीं, उन सबमें मरुदेवी का ही पद सबसे प्रथम रहा।

भावार्थ – संसार में बहुत सी स्त्रियाँ पुत्रों को जन्म देनेवाली हैं, उनमें मरुदेवी के ही चरणों को क्यों इन्द्राणी तथा देवों ने नमस्कार किया? और उनके चरणों की ही क्यों सेवा की? इसका कारण केवल यही है कि हे प्रभो! मरुदेवी माता के गर्भ में आकर आप विराजमान हुए थे, इसलिए उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई और वे, जितनी पुत्रों को जन्म देनेवाली स्त्रियाँ थीं और हैं, उन सबमें उत्तम समझी गयी, अन्य कोई कारण नहीं।

काव्य पर प्रवचन

देखो! भक्तामरस्तोत्र में भी ऋषभदेव प्रभु की स्तुति में कहते हैं —

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्त्र - रश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्॥ २२॥

सौ-सौ नारी सौ-सौ सुत को, जनती रहती सौ-सौ ठौर।
तुम से सुत को जननेवाली, जननी महती क्या है और?
तारागण को सर्व दिशाएँ, धरें नहीं कोई खाली।
पूर्व दिशा ही पूर्ण प्रतापी, दिनपति को जनने वाली॥ २२॥

जगत् में प्रतिदिन स्त्रियाँ अनेक पुत्रों को जन्म देती हैं परन्तु हे नाथ! आपके समान तीर्थङ्कर पुत्र को उत्पन्न करनेवाली तो एक आपकी माता ही है। हे भगवान! माता मरुदेवी जगत में धन्य है कि जिन्होंने

आपके समान उत्तम पुत्र को जन्म दिया है। इन्द्र आकर कहता है कि 'नमो रत्नकूखधारिणी माता!' हे माता! तीर्थङ्कर तो पूजनीय है ही परन्तु ऐसे तीर्थङ्कर भगवान को आपने अपनी कूख में धारण किया है, इसलिए हे माता! आपको भी नमस्कार है। हे जननी! आप तो तीन जगत की जननी हैं, जगत माता हैं, जगत की अम्मा हैं, आप सच्ची अम्मा हैं।

जगत तो कहता है, 'नारी तो नरक की खान है' परन्तु हे नाथ! आपकी माता तो रत्न की खान है। अहो! भगवान जिनके यहाँ अवतरित हों, उन माता-पिता की क्या बात!

माता मरुदेवी महासती है, भगवती है, वह भी अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करनेवाली हैं। जहाँ तीर्थङ्कर जन्म लेते हैं, उन माता-पिता को भी दीर्घ संसार नहीं होता है। हे भगवान! उत्तम पुत्र की जननी का पद तो मरुदेवी माता को ही है कि जिन्होंने आपके समान पुत्र को जन्म दिया है। हे माता! आपका पुत्र तो इस भव में मोक्ष प्राप्त करेगा परन्तु आप भी एक-दो भव में मोक्ष प्राप्त करेंगी... ऐसा कहकर इन्द्राणी, मरुदेवी माता को जगत में श्रेष्ठ पुत्र की जननी का पट्ट बाँधती है।

हे भगवान! जगत में स्त्रियाँ तो बहुत हैं और पुत्र भी बहुत स्त्रियाँ उत्पन्न करती हैं परन्तु उनमें आपके समान पुत्र को तो माता मरुदेवी ने ही जन्म दिया है, इसलिए वह इन्द्राणी से भी पूज्य है।● ●

आप समान न अन्य कोई

हे प्रभो! इस जगत में आपके समान अन्य कोई देव नहीं है। इस प्रकार पहिचानपूर्वक मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

हे भगवान! आपको सम्पूर्ण इच्छाओं का अभाव हो गया होने से आप 'निर्ग्रन्थ' हैं। *- विषापहार प्रवचन, पृष्ठ-37*

काव्य ९

अब, भगवान के जन्माभिषेक की बात करते हैं –

अंकत्थे तइ दिट्ठे जंतेण सुरालयं सुरिंदेण।
अणिमेसत्तबहुत्तं सयलं णयणाण पडिवण्णं॥

अर्थात् – हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! जिस समय इन्द्र आपको लेकर मेरुपर्वत को चला था, तब आपको गोद में बैठे हुए उसने देखा; उस समय उसके नेत्रों का निमेष (पलक) से रहितपना तथा बहुतपना सफल हुआ।

भावार्थ – हे प्रभो! इन्द्र के नेत्रों की अनिमेषता और अधिकता आपको देखने से ही सफल हुई थी। यदि इन्द्र आपके स्वरूप को न देखता तो उसके नेत्रों का पलकरहितपना और हजार नेत्रों का धारण करना सर्वथा निष्फल ही समझा जाता।

तात्पर्य यह है कि आपके समान रूपवान संसार में दूसरा कोई भी मनुष्य नहीं था।

काव्य पर प्रवचन

अहो! तीर्थङ्कर भगवान के दिव्यरूप की क्या बात! तीर्थङ्कर भगवान के वस्त्र और गहने स्वर्ग के मानस्तम्भ में से लाकर देव

पहनाते हैं।* तीर्थङ्कर भगवान को जन्म से ही मल-मूत्रादिक नहीं होते। तीर्थङ्कर भगवान के दिव्यरूप को इन्द्र भी एक हजार आँखें बनाकर आश्चर्य से टकटकी लगाकर देखता है। अन्दर के सम्यग्दर्शनादि धर्म की तो क्या बात! परन्तु उस धर्म के साथ का पुण्य कैसा होता है ? - उसकी भी अज्ञानियों को खबर नहीं है। जैसे, आम कैसा होता है, इसका तो पता न हो परन्तु आम के वृक्ष की छाया कैसी होती है ? - इसका भी पता न हो; इसी प्रकार, हे नाथ! आप तो धर्म के आम हो। आपकी अन्तर की पवित्रता का तो अज्ञानी को पता नहीं परन्तु आपका दिव्य पुण्य कैसा होता है ? इसका भी अज्ञानी को पता नहीं है।

हे प्रभु! हमें चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान हुआ है, और आपके चरण की भक्ति प्राप्त हुई है; इस कारण हम तो अन्दर से धर्म की ही इच्छा करते हैं।

सहकार आगे क्या माँगना, अर्थात् आम के वृक्ष के समक्ष, आम माँगना नहीं पड़ता। उसी प्रकार हे नाथ! आपके समक्ष हमें पुण्य माँगना नहीं पड़ता है। अन्तर के स्वभाव का भान हुआ और भक्ति का भाव जागृत हुआ, वहाँ पुण्य सहज हो जाता है।

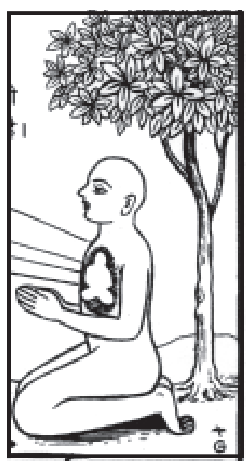

हे भगवान! आप जिस नगरी में पधारनेवाले हैं, वह नगरी पूरी स्वर्णमयी बन जाती है। वादिराज मुनिराज को कुष्टरोग हुआ था और राजा ने पूछा, तब उनके श्रावक ने कहा कि नहीं; मेरे गुरु को कुष्ट नहीं है। फिर

राजा स्वयं देखने जाता है। श्रावक ने मुनिराज से चर्चा की; तब मुनिराज उस समय भगवान स्तुति करते हुए कहते हैं कि –

हे नाथ! जहाँ आप जन्म लेते हैं, वह नगरी स्वर्णमयी बनती है तो मेरे हृदय में आपका वास हो और यह देह स्वर्ण जैसा न बने – ऐसा कैसे हो सकता है? देखो, स्तुति!

हे भगवान! इन्द्र आपके रूप को देखते हैं, वहाँ इन्द्र की आँख भी पलक नहीं झपकती है।

हे भगवान! केवलज्ञान होने पर आपकी आँख तो स्थिर हो गयी, उसमें तो पलक नहीं है और आपको देखने से इन्द्र की आँख भी स्तब्ध हो गयी है। हे भगवान! आपको देखने से इन्द्र के सहस्र लोचन सफल हुए हैं। इन्द्र और इन्द्राणी दोनों एकावतारी हैं, उन्हें चैतन्य का भान है; अन्तर्दृष्टि में पलक मारे बिना अखण्डरूप से चैतन्यरूप को निहारते हैं और बाहर में पलक झपके बिना हजार आँखों से भगवान को निहारते हैं। हे भगवान! आप हमारे हृदय के हार हैं। आपको देखने से हमारे नेत्र सफल हुए हैं।

हे नाथ! जहाँ आपका चैतन्य विराजता है – ऐसे देह को देखने से भी हमारे नेत्र सफल हैं। आपकी दिव्यध्वनि सुनने से कान में अमृत डलता है। इन्द्र ने दो आँखों से हजार आँखें बनाकर, उन आँखों से आपका रूप देखा है; इसलिए उनकी आँखें सफल हुई हैं।● ●

काव्य १०

अब, मेरुपर्वत पर भगवान का जन्माभिषेक हुआ, उसका अलङ्कार करके स्तुतिकार कहते हैं कि –

तित्थत्तणमावण्णो मेरु तुह जम्मण्हाणजलजोए।
तत्तस्स सूरपमुहा पयाहिणं जिण कुणंति सया॥

अर्थ – हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जिस समय आपका जन्म–स्नान मेरु के ऊपर हुआ था, उस समय उस स्नान के जल के सम्बन्ध से मेरु तीर्थपने को प्राप्त हुआ था, अर्थात् तीर्थ बना था; इसीलिए हे जिनेन्द्र! उस मेरुपर्वत की सूर्य, चन्द्रमा आदि सदा प्रदक्षिणा करते रहते हैं।

भावार्थ – आचार्य उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! जब तक मेरुपर्वत के ऊपर आपका जन्म–स्नान नहीं हुआ था, तब तक वह मेरुपर्वत, सामान्य पर्वतों के समान था और तीर्थ भी नहीं था, किन्तु जिस समय से आपका जन्म–स्नान, मेरु के ऊपर हुआ है; उस समय से उस आपके जन्म–स्नान के जल के सम्बन्ध से मेरुपर्वत तीर्थ, अर्थात् पवित्र स्थान हो गया है।

यह बात संसार में प्रत्यक्ष गोचर है कि जो वस्तु पवित्र हुआ करती है, उसकी लोग भक्ति तथा परिक्रमा आदि करते हैं; इसीलिए

उस मेरु को पवित्र मानकर सूर्य, चन्द्रमा आदि रात-दिन उस मेरु की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करते रहते हैं – ऐसा मालूम होता है।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! बड़े-बड़े जल के कलशों से जब इन्द्र ने आपका अभिषेक किया, तब आपके शरीर का स्पर्शित जल पड़ने से मेरुपर्वत तीर्थ बन गया। हे नाथ! अन्तर में तो चैतन्यस्वभाव के स्पर्श से पवित्रता हुई है और बाहर में आपके शरीर का स्पर्शित जल जहाँ पड़ा, वह पर्वत भी पूज्य है; इसलिए मेरुपर्वत की सूर्य-चन्द्र प्रदक्षिणा करते हैं।

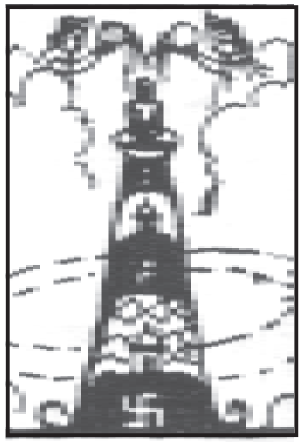

देखो! अन्दर जिसका आत्मा तीर्थस्वरूप हुआ है; ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि और ज्ञानरूप निश्चयतीर्थ जिसे प्रगट हुआ है, वह बाहर में तीर्थ का उपचार करके भक्ति करता है। इन्द्र, सम्यग्दृष्टि थे; आत्मा के भान बिना अकेले राग से मोक्षमार्ग माननेवाले को तो आत्मा का कुछ भान नहीं है। हे नाथ! चन्द्र-सूर्य, मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं, तब भी हमें आपकी ही महिमा दिखती है।

जब सीताजी का अपहरण रावण ने कर लिया, तब रामचन्द्रजी वृक्ष से भी पूछते हैं कि हे वृक्ष! तूने कहीं मेरी सीता देखी? मेरी सीता धर्मात्मा थी! कहीं उसकी भाषा सुनी, कहीं उसके पैर की चाल की झंकार सुनी? कहीं खड़खड़ाहट सुने तो वहाँ विचारते हैं कि यहाँ सीता होगीं! देखो, साधर्मी का प्रेम! इसी प्रकार यहाँ

भक्ति के कारण भगवान के भक्त जहाँ हो, वहाँ भगवान को देखता है।

तत्पश्चात् तो जब लोकापवाद दूर करने के लिए रामचन्द्रजी, सीता को वन में भेज देते हैं और सेनापति उन्हें ले जाकर जंगल में छोड़ आता है, तब सीताजी कहती हैं – हे सेनापति! मेरे राम से कहना कि लोकापवाद के भय से मुझे तो छोड़ा परन्तु जिनधर्म को मत छोड़ देना। देखो, स्वयं के अन्तर में उस समय धर्म याद आया कि मेरी शरण तो मेरे अन्तर में है।

यहाँ स्तुतिकार मुनिराज कहते हैं कि हे नाथ! मेरे हृदय में आपका वास है, इसलिए मैं तो सर्वत्र आपको ही देखता हूँ। हे नाथ! आपका आत्मा पवित्र; हम तो पवित्र हुए और आपके प्रताप से मेरुपर्वत भी पवित्र और पूज्य हुआ – ऐसी निश्चयपूर्वक की यह व्यवहारस्तुति है।

कोई कहता है – जिसे आत्मा की परमात्मशक्ति का भान हुआ है, वह तो अपने स्वरूप में ही मग्न क्यों नहीं रहता? वह फिर दूसरे भगवान की स्तुति किसलिए करता है? – तो ऐसा कहनेवाले को वस्तुस्थिति का पता नहीं है। भाई! जिसे आत्मा का ज्ञान हुआ है परन्तु अभी पूर्ण परमात्मदशा प्रगट नहीं हुई हो, वहाँ ऐसा भक्ति का उल्लास आये बिना नहीं रहता। जहाँ अपनी सर्वज्ञशक्ति का भान हुआ, वहाँ बाहर में, जिन्हें सर्वज्ञता प्रगट हो

गयी हो – ऐसे परमात्मा की भक्ति और बहुमान का उल्लसित भाव आता है।

मुनिराज, जंगल में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में बारम्बार झूलते हैं, फिर भी उस दशा में ऐसा भक्ति का उछाला आता है। अहो! सर्वज्ञदेव मेरे धर्मपिता हैं, मैं सर्वज्ञदेव का धर्मपुत्र हूँ; सर्वज्ञदेव मेरे स्वामी हैं, मैं उनका सेवक हूँ।

अहो! जिसे अन्तर में सम्यग्दर्शन–दशा प्रगट हुई – ऐसे सम्यक्त्वी जीव, सर्वज्ञ के लघुनन्दन हैं और भगवान उनके नाथ हैं। वह सर्वज्ञ के सिवाय अन्य किसी देव को नहीं मानता है।

यह भगवान ऋषभदेव की स्तुति है, यहाँ स्तुतिकार मुनिराज हैं, आत्मज्ञानी भावलिङ्गी सन्त हैं।

जिसे चिदानन्दस्वभाव का भान हुआ है, उसे अभी अपूर्णदशा होने के कारण भगवान की स्तुति का भाव आये बिना नहीं रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव, सर्वज्ञ का लघुनन्दन है – **केलि करे शिवमारग में, जगमाहीं जिनेश्वर के लघुनन्दन।** सर्वज्ञ का भक्त, सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य को नहीं मानता है। जैसे, पतिव्रता स्त्री एक अपने पति के अतिरिक्त दूसरे परपुरुष को स्वप्न में भी नहीं मानती है; इसी प्रकार सर्वज्ञ का भक्त, कुदेवादिक को नहीं मानता है और पहले अज्ञानभाव में कुदेवादिक में तन–मन–धन की अर्पणता से जैसा उल्लासभाव वर्तता था, उसकी तुलना में अधिक उल्लास से तन–मन–धन की अर्पणता करके सच्चे देव–शास्त्र–गुरु की भक्ति में न प्रवर्ते तो वह कुलटा स्त्री जैसा गृहीतमिथ्यादृष्टि है।

भगवान की प्रतिमाजी को देखने से बहुमान का भाव उल्लसित होता है कि अहो मेरे नाथ! अन्तर में ज्ञानी को ज्ञानानन्दस्वरूप का भान होता है और भगवान के प्रति ऐसा भक्तिभाव ज्ञानी को आये बिना नहीं रहता। स्त्री-पुत्र के प्रति कैसा प्रेम आता है? जबकि वह तो पाप का स्थान है। उसकी अपेक्षा यहाँ धर्म के प्रसङ्ग में विशेष उल्लास और प्रेम आना चाहिए। जिसे धर्म की प्रीति हो, उसे धर्म की प्रभावना इत्यादि प्रसङ्गों में उल्लास आये बिना नहीं रहता है।

पुत्र-जन्म हो, पुत्र-विवाह हो, इन प्रसङ्गों में साधारण मनुष्य भी हलुवा इत्यादि बनाता है क्योंकि वहाँ प्रेम होने से उल्लास आ जाता है। इसी प्रकार जिसे आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि है और जिसने सर्वज्ञ भगवान परमपिता को देव के रूप में स्वीकार किया है, उसे भक्ति का भाव आता है कि अहो! मेरे नाथ भगवान के लिए मैं क्या-क्या करूँ! मुनिराज भी भगवान की भक्ति करते हैं – हे नाथ! आपके समक्ष मैं तो बालक हूँ, आप मेरे धर्मपिता हो, इस कारण आपके समीप भक्ति का लाड़ करता हूँ; इस प्रकार भगवान के प्रति नम्रता करके भक्ति करते हैं।

हे नाथ! मेरुपर्वत के ऊपर आपका जन्मोत्सव होता है, वहाँ आपके चरण से स्पर्शित जल के कारण मेरुपर्वत पावन तीर्थ हो गया है। इसी कारण सूर्य-चन्द्र उसकी प्रदक्षिणा करते हैं।

हे भगवान! हे मेरे हृदय के हार! मेरी नजर में तो आप ही झलक रहे हो। हे भगवान! अभी तक एकेन्द्रियादिक दशा में कहीं आपके दर्शन नहीं किये थे। हे भगवान! अब आपके दर्शन हुए।

अब मेरी आँख खुली और मैंने आपके दर्शन किये, इसलिए मेरा यह जीवन पावन हुआ। आपके जैसा मेरा आत्मा है – ऐसा अन्तर में भान हुआ, वहाँ भक्त, भगवान को ही देखता है।

अन्तर में निश्चय का भान है, वहाँ ऐसी भक्ति के भाव को व्यवहार से धर्म कहा जाता है। अज्ञानी तो राग को ही धर्म मानता है – ऐसे अज्ञानी को तो व्यवहारधर्म भी नहीं कहा जाता है। यहाँ तो निश्चय-व्यवहार दोनों को साथ ही साथ रखकर बात है। बाहर में सौ-सौ अवधान करे, उसकी यहाँ कोई कीमत नहीं है। यहाँ तो धर्मी को निश्चय-व्यवहार दोनों अवधान एक साथ किस प्रकार है ? – उसकी बात है। अन्तर में एकाकार ज्ञानानन्दस्वभाव पर दृष्टि पड़ी है और बीच में भक्ति के भावरूप व्यवहार आता है, इसलिए यहाँ स्तुति करते हैं। ● ●

ऐसी अद्भुत स्तुति की है....

देखो तो सही.... यह भगवान की भक्ति! स्वयं के आत्मा को भगवान के मार्ग में मिलाकर भक्ति की है। भगवान ऋषभदेव तीर्थङ्कर, अवसर्पिणी के तीसरे काल में हुए हैं और स्तुतिकार आचार्य पञ्चम काल में हुए हैं, उनके मध्य असंख्य वर्षों का अन्तर है, फिर भी मानो भगवान अभी स्वयं के सामने प्रत्यक्ष साक्षात् विराजमान हों – ऐसी अद्भुत स्तुति की है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य ११

मेरुसिरे पडणुच्छलिय णीरताडणपणट्ठदेवाणं।
तं वित्तं तुह ण्हाणं तह जह णहमासियं किण्णं॥

अर्थात् – हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! मेरुपर्वत के मस्तक पर आपका स्नान होने पर पतन 'गिरने' से उछलते हुए जल के ताड़न से अत्यन्त नष्ट उन देवों की ऐसी दशा हुई, मानों चारों ओर से आकाश ही व्याप्त हो गया हो।

काव्य पर प्रवचन

अहो! इन्द्र एक भवतारी हैं। इन्द्र का भव पूर्ण करके, मनुष्य होकर उसी भव में मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं; इसलिए एक भवतारी हैं। सम्यग्दृष्टि इन्द्र भी भगवान के जन्माभिषेक इत्यादि प्रसङ्गों पर भक्ति से नाच उठता है। इन्द्र की आयु इतनी लम्बी होती है कि एक भव में तो असंख्य तीर्थङ्करों के पञ्च कल्याणक मनाता है।

हे नाथ! आपकी देह तो छोटी है, परन्तु आपको अन्दर चैतन्य का भान है, अभी बड़े होकर तो विवाह करनेवाले हो, राज्य करनेवाले हो, फिर भी आपके जन्मोत्सव में शकेन्द्र इत्यादि इन्द्र आकर भक्ति करते हैं।

देखो, इन्द्र एक भव में असंख्य तीर्थङ्करों के जन्माभिषेक करता है, फिर भी उसे उकताहट नहीं होती; अन्दर में भक्ति का

उल्लास उछलता है। अरे! बारम्बार तीर्थङ्कर हुआ ही करते हैं, ऐसा तो बहुत तीर्थङ्करों का जन्मोत्सव देखा है – ऐसा इन्द्र को नहीं लगता है। इन्द्र को तो उल्लास उछलता है कि अहो! धन्य अवतार! धन्य तीर्थङ्कर का अवतार!! ये तो इसी भव में केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

पञ्चाध्यायी में सम्यक्त्वी के निःशङ्कता, प्रभावना इत्यादि अङ्गों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पञ्च कल्याणक महोत्सव हों, विशाल यात्रा के प्रसङ्ग हों – ऐसे–ऐसे धर्मप्रभावना के प्रसङ्गों में निवृत्ति लेकर अवश्य जाना। उसमें भी पण्डितों, विद्वानों और धर्मात्माओं को तो विशेषरूप से जाना चाहिए क्योंकि वहाँ नयी–नयी प्रकार की चर्चा होती है, प्रभावना होती है। देखो, यहाँ ऐसा कहना है कि सम्यग्दृष्टि को धर्म–प्रभावना का प्रसङ्ग देखकर उत्साह आ जाता है।

भगवान का जन्म होना ज्ञात होते ही इन्द्र को हर्ष होता है। अहो! आज भरतक्षेत्र में तीर्थङ्कर का जन्म हुआ! आज महाविदेह में या ऐरावत में अमुक तीर्थङ्कर का जन्म हुआ!! – ऐसा जानकर तुरन्त सिंहासन से उतरकर भगवान को वन्दन करता है और भगवान का जन्माभिषेक करता है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे नाथ! आपके जन्माभिषेक के समय इन्द्रों ने ऐसा महाभिषेक किया कि उसका प्रपात पड़ने से पानी उछला, इससे देव उड़–उड़ कर आकाश ढक गया। उस समय देवों के विमान से आकाश आच्छादित हो गया, वे ही विमान आज भी आकाश में दिखायी देते हैं – ऐसा कहकर अलङ्कार करके भक्ति करते हैं। ● ●

काव्य १२

अब, बादल में भी अलङ्कार करके स्तुति करते हैं।

णाह तुम जम्म ण्हाणे हरिणो मेरुस्सि पणच्चमाणस्स।
वेल्लिरभुवाहिभग्गा तह अज्जवि भंगुरा मेहा॥

अर्थात् – हे प्रभो! आपके जन्म-स्नान के समय जिस समय अपनी लम्बी भुजाओं को फैलाकर इन्द्र ने नृत्य किया था, उन लम्बी भुजाओं से जो मेघ भग्न हुए थे, वे मेघ इस समय भी क्षणभंगुर ही हैं।

भावार्थ – ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो मेघ क्षणभंगुर मालूम पड़ते हैं, उनकी क्षणभंगुरता का यही कारण है कि जिस समय भगवान का जन्म-स्नान मेरुपर्वत पर हुआ था, उस समय उस मेरुपर्वत के ऊपर आनन्द में आकर अपनी भुजाओं को फैलाकर इन्द्र ने भगवान के सामने नृत्य किया था और उस समय फैली हुई भुजाओं से मेघ भग्न हुए थे; इसी कारण अब भी मेघों में भंगुरता है, उनकी भंगुरता का दूसरा कोई भी कारण नहीं है।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! असंख्य देवों का नायक इन्द्र, वह आपके समक्ष

भक्ति से नाच उठा! इन्द्र के पास तो दूसरे अनेक देव नृत्य करनेवाले हैं, परन्तु वह इन्द्र आपके समक्ष आकर भक्ति से नृत्य करता है। हे नाथ! आपको देखकर इन्द्र को ऐसा आह्लाद आ जाता है कि वह दोनों हाथ फैलाकर आकाश में ताण्डवनृत्य करता है। हे भगवान! आपके जन्माभिषेक के समय इन्द्र ने हाथ लम्बे किये, उससे बादल खण्डित हो गये, वे ही बादल अभी खण्ड-खण्डरूप दिखायी देते हैं।

हे नाथ! आपकी भक्ति के प्रताप से मुझे अन्तरस्वभाव का भान हुआ है और मेरे अनादि के कर्मरूपी बादल खण्ड-खण्ड हो गये हैं। हे भगवान! मुझे अब कर्म की अखण्डता नहीं रही है; अनादि का कर्मप्रवाह टूट गया है।

देखो! यह भक्तों की अद्‌भुत भक्ति! 'जगत जन कहते हैं कि भगत जन पागल हैं परन्तु वह पागल नहीं, अपितु प्रभु के घर प्रिय है'। हे प्रभु! हमें जिस समय भेदज्ञान हुआ, तब हमारे भेदज्ञान के प्रवाह से आठों ही कर्म टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गये। हे भगवान! दर्शन-ज्ञानरूपी भुजा द्वारा कर्मरूपी बादलों को मैंने खण्डित कर डाला है।

हे नाथ! आपकी भक्ति के समय इन्द्र ने ताण्डवनृत्य किया था, तब उसके हाथ का स्पर्श होनेमात्र से बादल खण्ड-खण्ड हो गये, उनके टुकड़े अभी आकाश में भटकते हैं।

देखो, यह अलङ्कारयुक्त भक्ति! ● ●

काव्य १३

अब, तेरहवें श्लोक में स्तुतिकार कहते हैं कि –

जाण बहुएहिं वित्ती जाया कप्पद्दुमेहिं तेहिं विणा।
एक्केणवि ताण तए पयाण परिकप्पिया णाह ॥

अर्थात् – हे नाथ! हे प्रभो! जिन प्रजाजनों की आजीविका बहुत से कल्पवृक्षों से होती थी, उन कल्पवृक्षों के अभाव में उन प्रजाजनों की आजीविका आप अकेले ने ही की।

भावार्थ – जब तक ऋषभदेव भगवान का जन्म, पृथ्वी–तल पर नहीं हुआ था, उस समय तक इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में भोगभूमि की रचना थी। जब उनको जिस बात की आवश्यकता होती थी, तब उस वस्तु की प्राप्ति के लिए उनको प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। वे सीधे कल्पवृक्षों के पास चले जाते थे और अभिलाषित वस्तु की पूर्ति उन कल्पवृक्षों के सामने कहनेमात्र से ही हो जाती थी। उस समय दश प्रकार के कल्पवृक्ष मौजूद थे तथा अलग–अलग सामग्री देकर जीवों को आनन्द देते थे, किन्तु जिस समय भगवान आदिनाथ का जन्म हुआ, उस समय जम्बूद्वीप के इस भरतक्षेत्र में कर्मभूमि की रचना हो गयी, भोगभूमि की रचना न रही, कल्पवृक्ष भी नष्ट हो गये; उस समय जीव भूखे मरने लगे

और उनको अपनी आजीविका की चिन्ता हो पड़ी, तब उस समय भगवान आदीश्वर ने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि का उपदेश दिया और भी नाना प्रकार के लौकिक उपदेश दिये; जिससे उनको फिर से वैसा ही सुख मालूम होने लगा; इसलिए कर्मभूमि की आदि में भगवान आदिनाथ ने ही कल्पवृक्षों का काम किया था। इसी बात को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार, भगवान की स्तुति करते हैं कि हे प्रभो! जिन प्रजाजनों की आजीविका, भोगभूमि की रचना के समय बहुत से कल्पवृक्षों से हुई थी, वही आजीविका कर्मभूमि के समय कल्पवृक्षों के बिना आप अकेले ने ही की; इसलिए हे जिनेन्द्र! आप कल्पवृक्षों में भी उत्तम कल्पवृक्ष है।

काव्य पर प्रवचन

हे नाथ! हे भगवान! पहले तो प्रजाजनों की आजीविका अनेक कल्पवृक्षों से होती थी, उन कल्पवृक्षों के अभाव में आपने अकेले ही समस्त प्रजाजनों की आजीविका की थी; इसलिए हे भगवान! आप ही उत्तम कल्पवृक्ष हैं।

हे भगवान! हमें अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का भान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ हमारा आत्मा ही कल्पवृक्ष है – ऐसा भान हुआ, उसमें आप निमित्त हो; इसलिए हे नाथ! आपने हमें जिलाया, आप हमारे कल्पवृक्ष हो। कल्पवृक्ष तो दश थे परन्तु उनके अभाव में, हे भगवान! आपने अकेले ने ही कल्पवृक्ष का काम किया।

ऋषभदेव भगवान के जन्म से पूर्व इस क्षेत्र में भोगभूमि की रचना थी, उस समय सब युगलिया थे और उन्हें अपनी आजीविका के लिए कुछ कार्य नहीं करना पड़ता था क्योंकि उस समय

कल्पवृक्ष थे, उन कल्पवृक्ष द्वारा उनकी आजीविका होती थी परन्तु बाद में भोगभूमि का काल पूरा होने पर कर्मभूमि की रचना का काल आया, तब कल्पवृक्ष क्षीण हुए और कल्पवृक्षों को क्षीण होता जानकर, उस समय के जीव चिन्तामग्न हो गये कि अब आजीविका किस प्रकार करेंगे? उस समय भगवान ऋषभदेव ने छह प्रकार के कर्म समझाये और कर्मभूमि की रचना समझाकर आजीविका की विधि बतलायी। इस प्रकार कर्मभूमि के प्रारम्भ में ऋषभदेव भगवान ने ही कल्पवृक्ष का काम किया था, इस बात का स्मरण करके स्तुतिकार आचार्यदेव कहते हैं कि हे नाथ! हमारे वास्तविक कल्पवृक्ष तो आप ही हैं।

हे भगवान! कल्पवृक्ष तो शुभभाव से प्राप्त हुए। उस शुभभाव से जो कार्य नहीं हुआ, वह हमारा कार्य आपके अकेले से पूरा हुआ है। हे भगवान! आप ही पूर्णानन्दी प्रभु हो, आप जगत के प्रकाशक हो परन्तु जगत के कर्ता नहीं। हे नाथ! हमारे लिए तो आप ही देव हो, आप ही कल्पवृक्ष हो।● ●

काव्य १४

पहुणा तए सणाहा धरा सि तीए कहण्णहा बूढो।
णवघणसमयसमुल्लसियसासछम्मेण रोमंचो॥

अर्थात् – हे जिनेश! हे प्रभो! आपने ही यह पृथ्वी सनाथ की है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो नवीन मेघ के समय होनेवाले श्वासोच्छ्वास के बहाने इसमें रोमाञ्च कैसे हुए होते?

भावार्थ – जो स्त्री, विवाह की अत्यन्त अभिलाषिणी है, यदि उसका विवाह हो जाए, अर्थात् वह सनाथ हो जाए तो जिस प्रकार उसके शरीर में रोमाञ्च उद्गत हो जाते हैं और उस रोमाञ्च के उद्गम से उसकी सनाथता का अनुमान कर लिया जाता है। उसी प्रकार हे प्रभो! जिस समय आप इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे, उस समय पृथ्वी में रोमाञ्च हुए; इसलिए उन रोमाञ्चों से यह बात जान ली थी कि आपने इस पृथ्वी को सनाथ, अर्थात् नाथसहित किया।

काव्य पर प्रवचन

हे जिनेश! आपने ही इस पृथ्वी को सनाथ किया है, आपके बिना तो यह पृथ्वी अनाथ थी और आपके आने पर यह पृथ्वी

सनाथ हुई है; इसीलिए नवीन मेघ के समय स्वासोच्छ्वास के बहाने उसमें रोमाञ्च होता है।

देखो! स्तुतिकार कहते हैं कि हे नाथ! आपके कारण मैं तो सनाथ हुआ हूँ परन्तु पूरी पृथ्वी सनाथ हो गयी है। हे नाथ! आपने ही पृथ्वी को सनाथ किया है, आपके इस पृथ्वी पर आने से पूरा जगत् पवित्र हुआ है; यह पृथ्वी, परमेश्वर का घर बनी है। भव्य जीव आपकी दिव्यध्वनि सुनकर, आपको पहचानकर परम पवित्र हुए हैं। मेरी अन्तरचैतन्य भूमि सनाथ हुई है, मैं अकषाय अखण्ड ज्ञान–शान्तिवाला हूँ – ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि हुई है। सम्यग्दर्शन का जन्म हुआ, इसलिए मैं जहाँ देखता हूँ, वहाँ सनाथपना ही देखता हूँ। जगत् में पवित्रपना आपके कारण ही दिखायी देता है।

प्रभु! इस पृथ्वी पर आच्छादित अंकुर क्या दिखाते हैं? यही कि आपके जन्म से पहले यह पृथ्वी अनाथ–दुखी थी। जैसे, स्त्री सनाथ होने पर रोमाञ्चित और प्रसन्न दिखायी देती है, वैसे ही आपका जन्म होते ही इस धरती में हरी वनस्पति छा गयी है। आपका अवतार होने पर पृथ्वी की सनाथता–प्रसन्नता दिखती है। अहो! वीतरागी सन्त भी, भक्ति का विकल्प उत्पन्न होने से जहाँ देखे वहाँ, भगवान की महिमा देखते हैं, और भगवानपना ही देखकर उसकी उपादेयता के गीत गाते हैं। ● ●

काव्य १५

अब, ऋषभदेव भगवान के दीक्षा के काल को लक्ष्य में लेकर भक्ति का वर्णन करते हैं।

विज्जुव्व घणे रंगे दिट्ठपणट्ठा पणच्चिरी अमरी।
जइया तइयावि तए रायसिरी तारिसी दिट्ठा॥

अर्थात् – हे वीतराग! जिस प्रकार मेघ में बिजली दीखकर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार आपने जिस समय नृत्य करती हुई नीलांजना नाम की देवांगना को पहले देखकर, पीछे नष्ट हुई देखी, उसी समय आपने राज्य-लक्ष्मी को भी वैसा ही देखा, अर्थात् उसको भी आपने चंचल समझ लिया।

भावार्थ – किसी समय भगवान सिंहासन पर आनन्द से विराजमान थे और नीलांजना नाम की अप्सरा का नृत्य देख रहे थे, उसी समय अकस्मात् वह अप्सरा विलीन हो, पुनः प्रकट हुई। इस दृश्य को देखकर भगवान को शीघ्र ही इस बात का विचार हुआ कि जिस प्रकार यह अप्सरा विलीन होकर तत्काल में प्रकट हुई है; उसी प्रकार इस लक्ष्मी का भी स्वभाव है, अर्थात् यह भी चंचल है; अतः उसी समय शीघ्र ही भगवान को वैराग्य हो गया।

उसी अवस्था को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने इस श्लोक में भगवान की स्तुति की है।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! जिस प्रकार आकाश में बिजली देखते-देखते ही नष्ट हो जाती है; उसी प्रकार नीलांजना नामक देवी को नृत्य करते-करते ही नष्ट होती देखकर तुरन्त ही आपने राज्यलक्ष्मी इत्यादि को भी क्षणभंगुर जानकर वैराग्य धारण कर लिया।

हे भगवान! गृहस्थदशा में आपकी सभा में नीलांजना अप्सरा नृत्य कर रही थी, तभी उसकी आयु पूर्ण हो गयी। इन्द्र ने वैराग्य का कारण बतलाने के लिए उस समय आयु पूर्ण हो ऐसी देवी को नृत्य के लिए भेजा था। देवी की मृत्यु देखते ही राज्यलक्ष्मी को क्षणभंगुर देखकर, यद्यपि प्रथम से ही भान है, तथापि विशेष वैराग्य प्रगट हुआ और तब तीर्थङ्कर को जातिस्मरण ज्ञान प्रगट हुआ। दीक्षा से पूर्व वैराग्य प्रसंग में सभी तीर्थङ्करों को पूर्व भव का स्मरण होता है।

यहाँ निमित्त के कारण वैराग्य हुआ है - ऐसा नहीं, परन्तु जिन्हें उस प्रकार के ज्ञान - वैराग्य की योग्यता होती है, उन्हें ही वैराग्य होता है; दूसरों को नहीं होता।

जिसे भक्ति का भाव प्रगट हुआ है, उसे भगवान की महिमा और उल्लासभाव आये बिना नहीं रहता। भगवान की यह स्तुति कौन करता है ? जिसे जिसकी रुचि हो, वह उसकी स्तुति करता है। भगवान के गुण जिसे अपनी रुचि में रुचिकर लगे, वह जीव अपनी रुचि का घोलन करके भगवान के गुणों की स्तुति करता है। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा को आत्मा का पूर्ण ज्ञानानन्दपना प्रगट हो गया है – ऐसे भगवान को जिसमें देवरूप से स्वीकार किया है, उसे अपने में ज्ञान–आनन्दस्वभाव का आदर हुआ है और राग की रुचि छूट गयी है।

यहाँ आचार्यदेव स्तुति करते हैं, उसमें ऋषभदेव भगवान के पूर्व भवों से लेकर सर्वज्ञ तक की बात को लक्ष्य में लेकर स्तुति करते हैं।

हे भगवान! आपको पूर्ण दशा प्रगट हो गयी है, उसका मैं आदर करता हूँ। हे भगवान! आपने तीसरे भव में तीर्थंकर नामकर्म बाँधा था और आप सर्वार्थसिद्धि में गये, तब आपके सम्यग्दर्शन –ज्ञान के प्रताप से सर्वार्थसिद्धि विमान सुशोभित होता था। आप यहाँ पधारे, तब इन्द्राणी ने आपकी माता की पूजा (सम्मान) की। आपका जन्म हुआ तो इन्द्रों ने मेरु पर ले जाकर आपका अभिषेक किया, इससे वह मेरुपर्वत पूज्य तीर्थ हुआ। तत्पश्चात् आपने पृथ्वी को सनाथ किया और, फिर हे नाथ! नीलांजनादेवी की मृत्यु होने पर आपने अनित्यादि भावनाएँ भा कर वैराग्य धारण किया। वैराग्य प्राप्त होते ही भगवान ने जिनदीक्षा अङ्गीकार की, उसका वर्णन करते हुए आचार्यदेव भगवान की स्तुति करते हैं। ● ●

काव्य १६

वेरग्गदिणे सहसा वसुहा जुण्णं तिणं व जं मुक्का।
देव तए सा अज्ज वि विलवइ सरिजलरवा वरई॥

अर्थात् – हे जिनेश! हे प्रभो! जिस दिन आपको वैराग्य हुआ था, उस दिन जो आपने यह पृथ्वी जीर्ण तृण के समान छोड़ दी थी, अतः तब से यह दीन पृथ्वी, इस समय भी नदी के ब्याज से (बहाने) विलाप कर रही है।

भावार्थ – जिस समय नदी में जल का प्रवाह आता है, उस समय नदी जो कल–कल शब्द करती है, उसको अनुलक्ष्य कर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! यह नदी जो कल–कल शब्द कर रही है, यह इसका कल–कल शब्द नहीं है किन्तु यह कल–कल शब्द इस पृथ्वी के विलाप का शब्द है क्योंकि जिस समय आपको वैराग्य हुआ था, उस समय आपने इस बिचारी पृथ्वी को सड़े तृण के समान छोड़ दिया था और आप इसके नाथ थे, इसलिए आपके द्वारा ऐसा अपमान पाकर यह विलाप कर रही है और कोई भी कारण नहीं।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! जब आपको वैराग्य हुआ और आपने इस पृथ्वी को सड़े हुए तिनके के समान जानकर परित्याग करके जिनदीक्षा अङ्गीकार की, तब से यह पृथ्वी आपके वियोग से रुदन कर रही थी, जो आज भी नदी के कल-कल शब्द द्वारा विलाप कर रही है।

देखो, जंगल में झरने तो कल-कल आवाज करते हुए सुनायी देते हैं, उसमें भी भगवान का स्मरण करके आचार्यदेव अलंकारपूर्वक भक्ति करते हैं।

हे नाथ! यह पृथ्वी मेरी नहीं है - ऐसा भान तो आपको पहले से ही था, और वैराग्य होने पर आपने इस पृथ्वी को तृणवत् परित्याग कर दिया; इसलिए यह पृथ्वी, अनाथ होकर अभी भी रुदन कर रही है।

हे भगवान! यह पृथ्वी कल-कल आवाज करके आपके वियोग में रुदन कर रही है। हे प्रभु! आप तो आत्मा के आनन्द में एकाग्र हुए परन्तु आपके विरह से यह पृथ्वी रुदन कर रही है। देखो, जंगल में झरने देखकर मुनिराज को भगवान का वैराग्य याद आता है। अहो, धन्य है आपका वैराग्य! कि आपने पृथ्वी का राग छोड़ दिया, फिर पृथ्वी के सन्मुख भी नहीं देखा; इसलिए यह पृथ्वी तो रुदन कर रही है। हे नाथ! आपने राज्य और रानियों की चिन्ता का भी परित्याग कर दिया था।

हे नाथ! आपके वियोग में रानियाँ तो रुदन करे ही, परन्तु यह सम्पूर्ण पृथ्वी भी स्वामीरहित हो गयी, इसलिए सम्पूर्ण पृथ्वी

कल–कल करती हुई रुदन करती है। आप पृथ्वी के नाथ थे परन्तु वैराग्य होने पर आपने पृथ्वी का परित्याग किया; इस कारण पृथ्वी रुदन करती है। हे भगवान! अभी भी पृथ्वी नदी की कल–कल आवाज करके रुदन कर रही है।

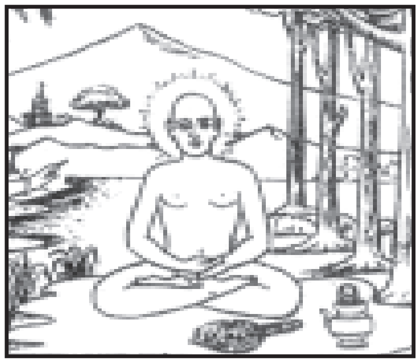

अहो! त्रिलोकनाथ आपके वैराग्य की क्या बात! – ऐसा कहकर चारित्रदशा के वैराग्य की प्रशंसा और स्तुति की है। भगवान की वैराग्यदशा स्तुतिकार के नजर के समक्ष झूलती है। ● ●

उन भगवान की महिमा कितनी?

अहा! केवलज्ञान के दिव्यप्रकाशसहित तीर्थङ्करदेव, समवसरण में गणधरों और मुनिवरों की सभा में विराजमान हों और इन्द्र नम्रतापूर्वक 1008 नामों से भगवान की स्तुति करते हों.... तब तो यह दिव्य स्तुति सुनकर तीन लोक के जीव मुग्ध होकर स्तब्ध हो जाते हैं। देव या मनुष्य तो क्या, तिर्यञ्चों का समूह भी स्तब्ध रह जाता है। अरे, यह स्तुति करनेवाला कौन है! और इन्द्र जैसे जिनकी ऐसी स्तुति करते हैं तो उन भगवान की महिमा कितनी?

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य १७

अब, वैराग्य होने के पश्चात् भगवान निश्चलध्यान में स्थित हैं, उस प्रसंग को लक्ष्य में लेकर मुनिराज स्तुति करते हैं।

अइ सोइओसि तइया काउस्सग्गटिठओ तुमं णाह।
धम्मिक्कघरारंभे उज्झीकय मूलखंभोव्व॥

अर्थात् – हे भगवन्! हे प्रभो! जिस समय आप कायोत्सर्ग –सहित विराजामन थे, उस समय धर्मरूपी घर के निर्माण में उन्नत मूल स्तम्भ के समान आप अत्यन्त शोभित होते थे।

भावार्थ – हे भगवन्! जिस समय आप कायोत्सर्गमुद्रा को धारण कर वन में खड़े थे; उस समय ऐसा मालूम होता था कि आप इस धर्मरूपी घर के स्थित रहने में प्रधान खम्भे ही हैं, अर्थात् जिस प्रकार मूल खम्भे के आधार से घर टिका रहता है, उसी प्रकार आपके द्वारा यह धर्म विद्यमान था।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! जब आप कायोत्सर्गपूर्वक विराजमान थे, तब आप धर्मरूपी घर के निर्माण के मूल स्तम्भ–समान अत्यन्त सुशोभित

थे। हे जिनेन्द्र! मुख्य स्तम्भ के आधार से घर टिकता है, वैसे ही आपके द्वारा ही धर्म विद्यमान था; इसलिए वस्तुत: आप धर्म के स्तम्भ हो।

हे भगवान! मन-वचन-काया से पार अतीन्द्रिय चेतन का लक्ष्य तो आपको पहले से ही था और तत्पश्चात् मुनि होकर आप मन-वचन-कायारहित चिदानन्दस्वरूप के ध्यान में विराजमान थे। आप धर्मरूपी घर के निर्माण में अत्यन्त उन्नत स्तम्भ के समान सुशोभित थे।

हे नाथ! आप धर्म के स्तम्भ हैं। देखो, यह भगवान की ध्यानदशा! मानो, स्वयं के समक्ष ही ध्यानस्थ भगवान स्थिर हो गये हों! इस प्रकार आचार्यदेव, ध्यानदशा की स्तुति करते हैं। हे भगवान! ध्यान में आपके आत्मा की जो स्थिरता होती है, वह धर्म का स्तम्भ है, वह केवलज्ञान लेने की तैयारी है।

किसी माता का इकलौता प्रिय पुत्र मर जाये, तो वह मोहवश हृदय से रुदन करती है; इसी प्रकार यहाँ आचार्य भगवान, भक्ति के कारण साक्षात् भगवान को लक्ष्य में लेकर स्तुति करते हैं। हे नाथ! इस काल में हमें हमारी केवलज्ञानदशा का विरह है। हे प्रभु! इस भरतक्षेत्र में हमें आपका विरह! इस प्रकार ज्ञानी को भगवान याद आते हैं। भगवान मानो यहीं विद्यमान-विराजमान हों, इस प्रकार स्तुति करते हैं। हे भगवान! आपका

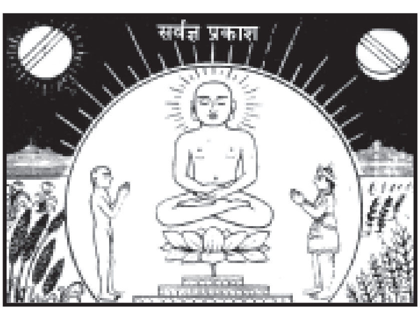

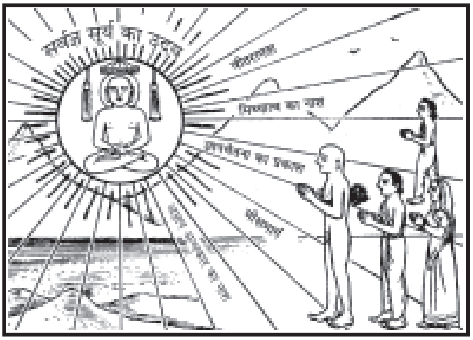

आत्मा आनन्दस्वभाव में स्थिर हो गया है और आप धर्म के स्तम्भ हैं।

पहले आचार्यदेव ने ऐसा कहा था कि हे नाथ! जब आपने अन्तरस्वरूप में लीन होकर ध्यान-अग्नि प्रगट की और उसमें अष्ट कर्मों को भस्म किया, तब आपकी ध्यान अग्नि में से चिंगारी उठी। वह सूर्य भी उसी का एक अंगार है। हे नाथ! सूर्य तो आपके ध्यान अग्नि का एक अंगार है। हे प्रभु! चैतन्य अग्नि में आपने कर्मों को जला दिया। उसकी ज्वाला होने पर चिंगारी उठी... अहो भगवान! मैं सूर्य को देखने पर भी आपकी ध्यान अग्नि को ही देखता हूँ।

अहो! आपने ध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट किया; इस प्रकार भक्त, भगवान की भक्ति करते हैं। देखो, यह भक्ति! धर्मात्मा को यथार्थ भक्ति का भाव उल्लसित होता है। हे नाथ! हे सीमन्धर भगवान! मानो आप हमारे सन्मुख ही विराजमान हों! और दिव्यध्वनि खिराते हों - ऐसा हमें लगता है। इस प्रकार भक्त, भक्ति करते हैं।

भगवान की प्रतिमा में भगवान की स्थापना का निक्षेप है। वह वास्तव में किसे होता है ? निक्षेप, नय का विषय है; नय सम्यग्ज्ञान प्रमाण का भेद है - ऐसा सम्यक्श्रुतज्ञान, सम्यग्दर्शनसहित ही होता है और वह सम्यग्दर्शन, द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन से ही होता है; इसलिए जिसे अन्तर में द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन प्रगट हुआ है, उसे भगवान के प्रति यथार्थ प्रेम-भक्ति उल्लसित हुए बिना नहीं रहती है। ● ●

काव्य १८

अब भगवान के केशों में भी अलंकार करके स्तुतिकार कहते हैं।

हिययत्थझाणसिहिओज्झमाण सहसा सरीरधूमो व्व।
सोहइ जिण तुह सीसे महुयरकुलसणिहकेसभरो॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! भौंरों के समूह के समान काला जो आपके मस्तक पर बालों का समूह है, वह हृदय में स्थित जो ध्यानरूपी अग्नि, उससे शीघ्र जलाया हुआ जो शरीर, उसके धुएं के समान शोभित होता है – ऐसा मालूम पड़ता है।

भावार्थ – धुआँ भी काला है और भगवान के मस्तक पर विराजमान केशों का समूह भी काला है। इसलिए ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! यह जो आपके मस्तक पर बालों का समूह है, वह बालों का समूह नहीं है, किन्तु वैराग्य-संयुक्त आपके हृदय में जलती हुई जो ध्यानरूपी अग्नि, उससे जलाया हुआ जो आपका शरीर है, उसका यह धुआँ है।

काव्य पर प्रवचन

भगवान के मस्तक पर भ्रमर के समान काले केशों का जो सुन्दर समूह है, उसमें अलंकार करके भक्ति करते हुए स्तुतिकार

आचार्यदेव कहते हैं कि हे नाथ! आपके हृदय में स्थित ध्यानरूपी अग्नि से आपने कर्मों को जलाकर भस्म किया, उसका यह धुँआ दिख रहा है।

हे भगवान! ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि करके, जब आप उसमें लीन हुए, तब आपने ध्यान द्वारा कर्मों को भस्म कर दिया। उन कर्मों का जो धुँआ निकला, वह आपके मस्तक के केशरूप दिखलायी देता है। काले भ्रमर जैसे केश दिखते हैं तो वहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे भगवान! यह तो आपने कर्मों को जला दिया, उसका धुँआ है।

समन्तभद्राचार्यदेव ने भी भगवान की अलौकिक स्तुति की है। ●●

.....जो कि मोक्ष का कारण होती है।

अहा! परमात्मा के गुणों के प्रति साधक का हृदय भक्ति से उछल जाता है। नियमसार की टीका में मुनिराज कहते हैं – 'भवभय को भेदनेवाले ऐसे भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है? – तब तो तू भवसागर के बीच मगर-मच्छ के मुख में पड़ा है।' इस भक्ति में अकेले राग की बात नहीं है, राग से भिन्न गुण की पहचानसहित की बात है, जो कि मोक्ष का कारण होती है। *– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य*

काव्य १९

अब, ध्यान करते–करते भगवान को केवलज्ञान होता है, उसकी बात को लक्ष्य में रखकर स्तुति करते हैं –

कम्मकलंकचउक्के णट्ठेणिम्मलसमाहि भूईए।
तुहणाणदप्पणेच्चिय लोयालोयं पडिप्फलियं॥

अर्थात् – हे जिनेश! हे प्रभो! निर्मल समाधि के प्रभाव से चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर, आपके सम्यग्ज्ञानरूपी दर्पण में यह लोक तथा अलोक प्रतिबिम्बित हुआ।

भावार्थ – जब तक इस आत्मा में अखण्डज्ञान (केवलज्ञान) की प्रगटता नहीं होती, तब तक यह आत्मा, लोक तथा अलोक के पदार्थों को नहीं जान सकता, किन्तु जिस समय उस केवलज्ञान की प्रगटता हो जाती है, उस समय यह लोकालोक के पदार्थों को जानने लग जाता है। उस सम्यग्ज्ञान की प्रगटता तेरहवें गुणस्थान में, जबकि प्रकृष्ट ध्यान में चार घातियाकर्मों का नाश हो जाता है, तब होती है। इसी आशय को लेकर ग्रन्थकार स्तुति करते हैं कि हे प्रभु! आपने समस्त प्रकृष्ट ध्यान से चार घातियाकर्मों का नाश कर दिया है; इसीलिए आप समस्त लोकालोक को भलीभाँति जाननेवाले हुए हैं।

काव्य पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र! हे आदिनाथ भगवान! निर्मल समाधि के प्रताप से चार घातिकर्मों का अभाव होने पर आपको दिव्य-केवलज्ञान प्रगट हुआ, उस दिव्य दर्पण में लोक-अलोक प्रत्यक्ष ज्ञात हुए... हे नाथ! हम तो छद्मस्थ हैं, हमें अभी केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ है परन्तु आपका केवलज्ञान देखकर भक्ति का भाव उछल रहा है।

हे भगवान आप ज्ञानानन्द में लीन हुए और निर्मल समाधिरूप निर्विकल्प स्थिरता होने पर चार घातिकर्म नष्ट हुए; आपके सम्यग्ज्ञान दर्पण में लोकालोक प्रतिबिम्बित हुआ। ज्ञान में किसी का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ा है परन्तु जैसा ज्ञेय है, वैसा ज्ञान में ज्ञात होता है। दर्पण का दृष्टान्त ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक स्वच्छता बतलाने के लिए है; वस्तुतः कोई आकार ज्ञान में पड़ा नहीं है।

हे भगवान! आपको जो दिव्य केवलज्ञान प्रगट हुआ है, उसे ही मैं मानता हूँ, मुझे अल्पज्ञता का आदर नहीं है। जिसका स्वभाव जानने का है, वह किसे नहीं जानेगा? प्रभु! आपके ज्ञान में कुछ अज्ञात नहीं रहता है। ● ●

काव्य २०

आवरणाईणि तए समूलमुम्मूलियाइ दट्ठूण।
कम्मचउक्केण मुअं व णाह भीऐण सेसेण॥

अर्थात् – हे प्रभो ! हे जिनेन्द्र ! जिस समय आपने ज्ञानावरणादि घातियाकर्मों का जड़सहित अर्थात् सर्वथा नाश कर दिया था; उस समय उन सर्वथा नष्ट ज्ञानावरणादि कर्मों को देखकर शेष जो चार अघातियाकर्म रहे, वे भय से आपकी आत्मा में मरे हुए के समान रह गये।

भावार्थ – जिस समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय – इन चार घातियाकर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है; उस समय शेष वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र – ये चार अघातियाकर्म बलहीन रह जाते हैं। इसी आशय को मन में रखकर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवान ! जो अघातियाकर्म आपकी आत्मा में मृतक के समान अशक्त होकर पड़े रहे, उनकी अशक्तता का कारण यह है कि जब आपने अत्यन्त प्रबल चार घातियाकर्मों को नाश कर दिया, उस समय उनको बड़ा भारी भय हुआ कि हम भी अब निर्मूल किये जाएँगे; इसीलिए वे मरे हुए के समान अशक्त ही आपकी आत्मा में स्थित रहे।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! ध्यान के बल से जब आपने ज्ञानावरणादि चार घनघातियाकर्मों का नाश किया, तब उन घातियाकर्मों का नाश देखकर अवशेष चार अघातियाकर्म भी इस भय से मृतकवत् निर्बल हो गये हैं कि जिसने घातियाकर्मों को विनष्ट कर दिया तो हमारा तो क्षण में नाश कर ही देगा! इस प्रकार मृत्यु के भय से अघातियाकर्म बलहीन हो गये।

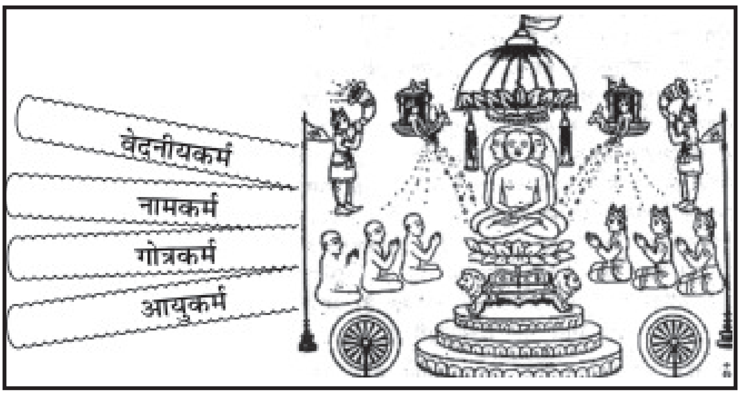

भगवान ने ध्यान द्वारा चार घातियाकर्मों का नाश किया। अब चार अघातियाकर्म कैसे रहे हैं ? – वे जली हुई डोरी जैसे रहे हैं। जैसे, जली हुई डोरी बाँधने के काम नहीं आती; उसी प्रकार अघातियाकर्म, भगवान को क्षुधा–रोग आदि उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं।

हे भगवान! आपने जिस समय चार घातियाकर्मों का नाश किया, तब भय से चार अघातियाकर्म मरे हुए के समान और जली हुई रस्सी के समान रह गये। इससे वे आत्मा को क्षुधा, तृषा, रोग, उपसर्ग का कारण हो सकें – ऐसा नहीं होता।

अखण्ड आनन्दमूर्ति हुए उन भगवान को क्षुधा, रोग इत्यादि नहीं होते हैं। भगवान को चार अघातियाकर्म बाकी हैं परन्तु वे कैसे हैं? भयभीत होकर मुर्दे जैसे हो गये हैं। उनमें अब क्षुधा, तृषा, रोग या उपसर्ग उत्पन्न करने की ताकत नहीं रही है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी इस शास्त्र को वनशास्त्र कहकर बहुमान किया है और कहा है कि '**चार अघातिकर्म जहाँ वर्ते प्रभो, जली जेवरीवत् हो आकृति मात्र जब।**' ऐसे तीर्थंकर भगवान को केवलज्ञान होने के पश्चात् क्षुधा, तृषा, रोग इत्यादि कहना, वह सर्वज्ञदेव का अवर्णवाद है; इसलिए वह दर्शनमोह के आस्रव का कारण है।

भगवान को रोग, दवा, क्षुधा, इत्यादि अठारह दोष होते ही नहीं और शरीर में रोगादि हों, उस प्रकार के कोई कर्म ही भगवान को नहीं रहे हैं। अभी जो अठारह दोषरहित* भगवान को पहचानता भी नहीं, उसे तो भगवान की सच्ची स्तुति भी नहीं होती है। यहाँ तो सर्वज्ञ कैसे होते हैं? उसके भानसहित अन्तर में स्वयं भी स्वभाव की दृष्टि और लीनता प्रगट करके, आचार्यदेव ने अपूर्व स्तुति की है। ●●

---

* अठारह दोहरहित आप्त का स्वरूप नियमसार गाथा ६ में बतलाया है। उस गाथा पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन इसी ग्रन्थ में परिशिष्टरूप से दिया है।

काव्य २१

णाणामणिणिम्माणे देव ट्ठिउं सहसि समवसरणम्मि।
उवरिव्व सण्णिविट्ठो जियाण जोईण सव्वाणं॥

अर्थात् – हे जिनेश! हे प्रभो! जिस समवसरण की रचना चित्र-विचित्र मणियों से की गयी थी, उस समवसरण में जितने भी मुनि थे, उन समस्त मुनियों के ऊपर विराजमान आप अत्यन्त शोभा को प्राप्त होते थे।

काव्य पर प्रवचन

जब भगवान को केवलज्ञान हुआ, तब, इन्द्रों ने आकर समवसरण की अद्‌भुत रचना की – इस बात को लक्ष्य में लेकर आचार्यदेव, स्तुति करते हैं।

हे भगवान! आपको केवलज्ञान होने पर इन्द्रों ने आकर जिस समवसरण की रचना चित्र-विचित्र मणिरत्नों से की थी, उसमें जो मुनिराज विराजमान थे, उन समस्त मुनियों पर सिर-छत्र के रूप में आप अत्यन्त शोभायमान थे।

भगवान को केवलज्ञान होने पर तीर्थङ्करप्रकृति का उदय आया और इन्द्रों ने चित्र-विचित्र मणिरत्नों से युक्त अद्‌भुत समवसरण की रचना की, उसमें भगवान विराजमान थे। तीर्थङ्कर

भगवान, साधारण वन में, वृक्ष के नीचे या कुम्हार के घर में अथवा साधारण मकान में नहीं रहते, अपितु इन्द्र आकर समवसरण की अद्भुत रचना करता है, उसके बीच में सिंहासन पर भगवान विराजमान होते हैं, तथापि भगवान उस सिंहासन को स्पर्श नहीं करते; सिंहासन से चार अँगुल उच्च आकाश में भगवान निरालम्बनरूप से विराजमान थे। वहाँ समवसरण में अनेक भावलिंगी मुनिराज विराजमान थे। हे नाथ! आप उन समस्त सन्त, मुनिवरों के सिर-छत्र के रूप में सुशोभित थे।

हे जिनेन्द्रनाथ! आप हमारे सिर-छत्र हो। हम मुनि हैं और आप तो हमारे नाथ हैं। हमारे ऊपर आपका सिर-छत्र है। हे भगवान! समवसरण में गणधर और मुनियों इत्यादि की बारह सभा के ऊपर आप सिर-छत्ररूप सुशोभित थे।

सिद्धभगवान लोक के ऊपर विराजमान हैं। उनकी स्तुति करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे नाथ! आप संसारसमुद्र में डूबे हुए जीवों को उसमें से बाहर निकालने के लिए ऊपर विराजमान हो। आप जगत् को संसार में से बाहर निकालनेवाले हो। जैसे, कुँए में पड़े हुए मनुष्य को बाहर निकालनेवाला ऊपर खड़ा होता है और डोरी से बाहर निकालता है; उसी प्रकार हे नाथ! आप ऊपर

सिद्धालय में हमारे आदर्शरूप में विराजमान हो, और आप हमें संसार से खींचकर बाहर निकालनेवाले हो। इसी तरह यहाँ कहते हैं कि हे नाथ! आप समवसरण के बीच में समस्त मुनियों के ऊपर सुशोभित थे।

देखो, यह स्तुतिकार पद्मनन्दि मुनिराज हैं। (वे कहते हैं कि) हे भगवान! इन्द्र आकर आपकी भक्ति करते हैं। इन्द्र जैसे पुण्यवन्त भी आपका आदर करते हैं, उसका अर्थ यह हुआ कि उन्हें पुण्य का आदर नहीं है, अपितु ज्ञानानन्द में जो लीनता, उसका उन्हें आदर है। बड़ा चक्रवर्ती हो और हाथी पर चतुरंग सेना के साथ निकला हो, वहाँ जंगल में कहीं मुनिराज दिखायी दें तो वह हाथी से उतरकर उनका आदर - बहुमान करता है कि अहो! आप इस आत्मा के आनन्दकन्द स्वरूप में झूलते हैं; आपको आत्मा का आनन्द-वैभव प्रगट हुआ है; आपके समक्ष यह पुण्य का वैभव तुच्छ है।

देखो, चक्रवर्ती के पास पुण्य का ऐसा वैभव है कि वैसा मुनिराज के पास बाह्य में नहीं है और मुनिराज के पास अन्तर में जैसा आत्मा के आनन्द का वैभव है, वैसा वैभव चक्रवर्ती के पास नहीं है। वहाँ चक्रवर्ती को पुण्य के वैभव का आदर नहीं है, अपितु धर्म का आदर है; इसलिए वह मुनिराज का आदर-बहुमान करता है, इसलिए जिसे पुण्य का या पुण्य के फल का आदर है, वह वास्तव में धर्मात्मा को सच्चा वन्दन या स्तुति नहीं कर सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव वास्तव में भगवान की भक्ति नहीं कर सकता है।

समन्तभद्राचार्यदेव स्तुति में कहते हैं कि जो जिसकी स्तुति करता है, उसके अन्तर में उसका आदर-रुचि होना चाहिए। सम्यक्त्वी को चिदानन्दस्वभाव की रुचि हुई है, इसलिए जिन्हें पूर्णानन्ददशा प्रगट हुई है, ऐसे भगवान की वह स्तुति करता है।

यहाँ भगवान की स्तुति करते-करते पूर्व भव से वर्णन किया था और ठेठ भगवान को केवलज्ञान हुआ, वहाँ तक बात आयी है। केवलज्ञान होने पर भगवान के अलौकिक समवसरण की रचना होती है। यहाँ (सोनगढ़ में) सीमन्धर भगवान के समवसरण का नमूना है परन्तु मूल समवसरण अलौकिक-दिव्य होता है, उसकी क्या बात! इन्द्र को भी उसे देखकर आश्चर्य होता है कि अहो! ऐसा कैसा जिनेन्द्रदेव का वैभव!!

दान अधिकार में आचार्यदेव ने बहुत उपदेश दिया है कि अरे जीव! यदि तेरी लक्ष्मी विषयभोग में खर्च करेगा अथवा लोभ करेगा तो व्यर्थ ही पाप बाँधेगा, उसकी अपेक्षा तो कुछ लोभ घटाकर पूजा, प्रभावना इत्यादि के कार्यों में खर्च कर। तुझे धर्म का प्रेम हो तो धर्म की प्रभावना के लिए अपनी लक्ष्मी का प्रयोग कर। पूर्व में तेरे गुण की निर्मलदशा जली थी, तब पुण्य का विकारभाव हुआ था, उस पुण्य के फल में यह लक्ष्मी प्राप्त हुई तो लोभ घटाकर किञ्चित् शुभकार्य में खर्च कर। अरे! कौवे को जली हुई खिचड़ी मिले तो वह भी काँव-काँव करके दूसरे कौवों को इकट्ठा करके खाता है, तो तुझे जली हुई खिचड़ी के समान पुण्य से यह लक्ष्मी प्राप्त हुई, उसे तू शुभकार्य में - धर्म की प्रभावना, भक्ति, साधर्मी का प्रेम -इत्यादि कार्यों में खर्च कर।

इस प्रकार बहुत-बहुत उपदेश देकर फिर अन्त में आचार्यदेव कहते हैं कि लोभरूपी कुएँ में पड़े हुए जीवों को बाहर निकालने के लिए हमने जो यह उपदेश दिया है, वह किसे लागू पड़ेगा ? जो जीव, फूल जैसे कोमल होंगे, पात्र होंगे – ऐसे भव्यजीव यह उपदेश सुनकर खिल उठेंगे। जैसे, भ्रमर की गुंजारण से लकड़ी का फूल नहीं खिलता परन्तु सच्ची कली हो तो खिल जाती है; उसी प्रकार जो यह उपदेश दिया है, उसे सुनकर सुपात्र जीव उत्साह से खिल जाएँगे कि अहो ! मेरे धन्य भाग्य कि मेरी लक्ष्मी को धर्म-प्रभावना में खर्च करने का मुझे अवसर आया ! भगवान की भक्ति, दान, प्रभावना इत्यादि का भाव, पात्र जीव को आये बिना नहीं रहता है। उसमें अभी भक्ति का वर्णन चल रहा है। ● ●

बन्धन अब हमें नहीं रह सकता।

अहो नाथ ! आपके आत्मा में से तो सर्व पाप दूर हो गये और आपके गुणों की कथा सुननेवाले के भी पाप दूर हो जाते हैं। हे प्रभो ! हमारा केवलज्ञान तो अभी थोड़ा आगे है, परन्तु जब आपके केवलज्ञान को लक्ष्य में लेते हैं, तब हमारा सम्यग्ज्ञानरूपी कमल खिल जाता है और अज्ञानरूपी पाप अन्धकार दूर हो जाता है। संसार की जेल अथवा कर्मों के ताले का बन्धन अब हमें नहीं रह सकता।

-पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य २२

समवसरण में विराजमान सर्वज्ञ भगवान की स्तुति करते हुए मुनिराज कहते हैं कि –

लोउत्तरा वि सा समवसरणसोहा जिणेस तुह पाये।
लहिऊण लहइ महिमं रविणो णलिणिव्व॥

अर्थात् – हे भगवन्! हे प्रभो! जिस प्रकार पुष्प में स्थित कमलिनी, सूर्य की किरणों को पाकर और भी अधिक महिमा को प्राप्त होती है, उसी प्रकार यद्यपि समवसरण की शोभा स्वभाव से ही लोकोत्तर होती है तो भी हे जिनेन्द्र! आपके चरण-कमलों को पाकर वह और भी अत्यन्त महिमा को धारण करती है।

भावार्थ – एक तो कमलिनी स्वभाव से ही अत्यन्त मनोहर होती है, किन्तु यदि वही कमलिनी सूर्य की किरणों को प्राप्त हो जावे तो और भी महिमा को प्राप्त होती है; उसी प्रकार समवसरण की शोभा, एक तो स्वभाव से ही लोकोत्तर, अर्थात् सबसे उत्तम होती है; और आपके चरणों के आश्रय को प्राप्त होकर वह और भी अत्यन्त महिमा को धारण करती है।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! समवसरण की शोभा अपार है परन्तु उस समवसरण

के कारण आपकी शोभा नहीं है, अपितु आपके कारण समवसरण की शोभा है।

हे नाथ! बड़े-बड़े देवों और इन्द्रों के मान भी जहाँ गल जाए - ऐसी आपके समवसरण की अद्भुत शोभा है। हे भगवान! आपके समवसरण के वैभव के समक्ष हमारे पुण्य-वैभव की तो क्या गिनती? आपके समवसरण के समक्ष इन्द्र की विभूति भी तृणवत् लगती है। आपके समवसरण में स्वर्णमयी मानस्तम्भ है, जिन्हें देखते ही मानी का मान गल जाता है। हे नाथ! यहाँ तो ऐसा मानस्तम्भ कहाँ बना सकते हैं? आपके समवसरण की लोकोत्तर शोभा है परन्तु हे नाथ! उस समवसरण की शोभा भी आपके चरणकमल के प्रभाव से बढ़ गयी है। हमारा वैभव तो अत्यन्त तुच्छ है। हे नाथ! हम किसका अभिमान करें?

देखो, यह सम्यक्त्वी की भक्ति! सम्यक्त्वी को पुण्य के ठाठ की महिमा नहीं परन्तु चिदानन्द केवलज्ञान की महिमा है। स्वभाव की महिमा के समक्ष उसे पुण्य का आदर नहीं है।

हे भगवान! आपने जो सर्वज्ञदशा प्रगट की है, उसकी ही वास्तविक शोभा है। आपकी सर्वज्ञता के कारण समवसरण की शोभा है।

देखो, साधारण लौकिक पुण्य से भगवान के लोकोत्तर पुण्य को अलग किया है और उस लोकोत्तर पुण्य को भी स्वभाव से भिन्न किया है। हे नाथ! लोक में वह (लोकोत्तर) पुण्य सबसे उत्कृष्ट है परन्तु केवल आपके केवलज्ञान की शोभा के समक्ष पुण्य की कुछ शोभा नहीं है।

श्री समन्तभद्राचार्य भी भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे नाथ! आपका यह समवसरण का वैभव – देव, चँवर ढोलते हैं, आकाश में आपका गमन होता है, उसके कारण हम आपको महान नहीं मानते क्योंकि ऐसी विभूति तो मायावी भी बतलाते हैं परन्तु आपको सर्वज्ञता प्रगट हो गयी है; इससे आप ही मोक्षमार्ग के सत्य नेता हो; इसलिए हम आपकी स्तुति करते हैं।

देखो, शास्त्र में रेवतीरानी का दृष्टान्त आता है। एक क्षुल्लक उनकी परीक्षा करने के लिए अलग-अलग भेष धारण करता है। अन्त में समवसरण की रचना का प्रदर्शन विद्या के बल से करता है और कहता है कि मैं पच्चीसवाँ तीर्थङ्कर हूँ। सारा गाँव वहाँ वन्दन करने जाता है परन्तु रेवतीरानी वहाँ वन्दन करने नहीं जाती, क्योंकि पच्चीसवें तीर्थङ्कर नहीं होते। फिर वह क्षुल्लक ऐसा प्रदर्शन करता है कि गौतमगणधर आहार के लिए आते हैं, फिर भी रेवतीरानी को उत्साह नहीं आता। कोई पूछता है कि अरे! यह रेवतीरानी तो जैनधर्म की परमभक्त है, फिर भी मुनिराज का आदर क्यों नहीं करती? तब रेवतीरानी कहती है कि मुझे मेरे हृदय में अन्दर से भाव ही जागृत नहीं होता। देखो, यह अमूढ़ता! धर्मी जीव स्वप्न में भी कुदेवादिक को नहीं मानता है।

यहाँ तो कहते हैं कि हे भगवान! हम तो आपके केवलज्ञान की ही शोभा मानते हैं। समवसरण भी आपके चरण कमल के प्रताप से ही शोभित होता है।● ●

काव्य २३

णिद्दोसो अकलंको अजडो चंदोव्व सहसि तं तहवि।
सीहासणायलत्थो जिणंद कयकुवलयाणंदो॥

अर्थात् – हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आप यद्यपि निर्दोष, अकलंक और अजड़ हैं तो भी अचल सिंहासन में स्थित तथा कुवलय को आनन्दित करनेवाले ऐसे आप चन्द्रमा के समान शोभित होते हैं।

भावार्थ – हे जिनेन्द्र! आप तो निर्दोष हैं और चन्द्रमा, दोष (रात्रि) से सहित है, अर्थात् सदोष है। आप तो कर्म-कलंक से रहित हैं, किन्तु चन्द्रमा, कलंक से सहित है। आप तो जड़ता -रहित हैं, किन्तु चन्द्रमा, जड़ता से सहित है। इस प्रकार आप और चन्द्रमा में भेद है, परन्तु जिस प्रकार चन्द्रमा, पर्वत के शिखर पर स्थित रहता है और रात्रि-विकासी कमलों को आनन्द का देनेवाला है, इसलिए शोभा को प्राप्त होता है; उसी प्रकार पर्वत के समान आप भी सिंहासन पर स्थित थे तथा आपने समस्त पृथ्वी-मण्डल को आनन्द दिया था, इसलिए आप भी चन्द्रमा के समान ही शोभित होते थे।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! आप तो अज्ञान अन्धकार को ही नष्ट करनेवाले हैं। चन्द्रमा, रात्रि के अन्धकार को दूर करता है परन्तु अज्ञान अन्धकार को दूर नहीं कर सकता। हे भगवान! आप तो अज्ञानरूपी अन्धकार के विनाशक हैं।

हे नाथ! जैसे चन्द्र विकासी कमल को चन्द्रमा विकसित करनेवाला है; उसी प्रकार आप भव्य जीवों को आनन्ददातार हैं। देखो, स्तुतिकार को स्वयं में आनन्द प्रगट हुआ है, वहाँ निमित्त में आरोप / उपचार करके भक्ति से कहते हैं कि हे नाथ! आप हमें आनन्द प्रदाता हैं।

हे भगवान! जैसे ताराओं के मण्डल में चन्द्र सुशोभित होता है, उसी प्रकार आप बारह सभाओं के मध्य सिंहासन पर विराजमान चन्द्रमा के समान सुशोभित थे परन्तु हे नाथ! चन्द्रमा की अपेक्षा भी आपमें विशिष्टता है। चन्द्रमा तो दोषवाला / कलंकवाला, जड़ है और आप तो निर्दोष / अकलंक, चैतन्यमूर्ति हैं।

हे जिनेश्वर चन्द्र! आप भव्यरूपी कमलों को विकसित करनेवाले हैं। आप दाता हैं, चन्द्रमा तो कलंकवान दिखायी देता है, जड़ है, जबकि आप तो पूर्ण कलंकरहित चिदानन्द हो और सबको आनन्द प्रदाता हो। ● ●

काव्य २४

अच्छंतु ताव इयरा फुरियविवेया णमंतसिरसिहरा।
होइ असोहो रुक्खो वि णाह तुह संणिहाणत्थो॥

अर्थात् – आचार्य कहते हैं कि हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जिन भव्य जीवों के ज्ञान की ज्योति स्फुरायमान है और जो आपको मस्तक झुका कर नमस्कार करते हैं, वे तो दूर ही रहें, किन्तु हे भगवान! आपके समीप रहा हुआ जड़ वृक्ष भी अशोक हो जाता है।

भावार्थ – हे जिनेश! जिनको ज्ञान मौजूद है, अर्थात् जो ज्ञानी हैं तथा आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करनेवाले हैं – ऐसे भव्य जीव आपके पास में रहकर तथा आपका उपदेश सुनकर शोकरहित हो जाते हैं, इसमें तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु जो वृक्ष जड़ है, वह भी केवल आपके समीप में रहा हुआ ही अशोक हो जाता है; यह महान आश्चर्य है।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! जिन भव्य जीवों को ज्ञानज्योति स्फुरायमान हुई है और आपको मस्तक झुकाकर वन्दना करते हैं – ऐसे ज्ञानी को आपके समक्ष शोक मिटकर आनन्द होता है – इसमें क्या आश्चर्य

है ! परन्तु हे नाथ ! आपके समीप में रहा हुआ, यह जड़ – ऐसा वृक्ष भी अशोक हो जाता है। भगवान के समवसरण में भी अशोकवृक्ष होता है, उसमें अलंकार करके स्तुतिकार स्तुति करते हैं कि हे नाथ ! आपकी निकटता के प्रताप से तो वृक्ष भी 'अशोक' हुआ है। जड़ ऐसा वृक्षपना शोकरहित 'अशोकवृक्ष' हुआ तो आपकी निकटता से आत्मा, पूर्णानन्ददशा को प्राप्त करे, उसमें क्या आश्चर्य !

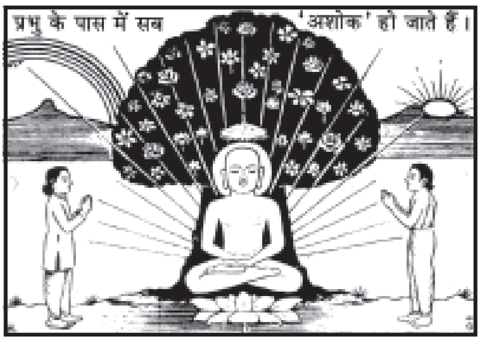

हे भगवान ! आप शोक को हरकर आनन्द देनेवाले हैं। हे नाथ ! दूसरों की तो क्या बात ! आपके समीप तो वृक्ष भी अशोक हो गया। इसी प्रकार हे भगवान ! आपकी समीपता में रहनेवाले आत्मा में वीतरागी अशोकदशा हो जाती है – उसमें आश्चर्य नहीं है।

देखो ! भक्ति करनेवाले को परमार्थ का भान है कि मुझे मेरे स्वभाव की समीपता में रहने से शोकरहित वीतरागीदशा प्रगट हो जानेवाली है परन्तु भक्ति का भाव उल्लिसित हुआ है, इसलिए निमित्तरूप से भगवान में आरोप / उपचार करके कहते हैं कि हे नाथ ! आपकी समीपता के प्रताप से हमारा शोक मिट जाता है और हमें स्वभाव के अवलम्बन से आनन्द, उल्लास आया है।

देखो, यह अशोकवृक्ष इत्यादि सभी चीजें कोई अलंकार (अर्थात् मात्र महिमा मण्डन) नहीं हैं परन्तु यथार्थ है। समवसरण

है, उसमें स्वर्ण के मानस्तम्भ हैं, अशोकवृक्ष है, सिंहासन, छत्र, भामण्डल, अशोकवृक्ष इत्यादि सब साक्षात् होते हैं। अभी भी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान विराजमान हैं, वहाँ ऐसा सब अभी वर्त रहा है।

हे नाथ! आपके समीप में रहनेवाला जड़ वृक्ष भी अशोक हो जाता है तो मैं आपका पूर्ण स्वरूप पहचान कर, मेरा पूर्ण पद अन्तर में देखता हूँ, तो अब मुझे संसार के जन्मादिक दुःख-शोक कैसे रहेंगे? नहीं रहेंगे। मुझे अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्द प्रगट हुआ है, इसलिए कहता हूँ कि हे नाथ! हमारी पूर्ण अलौकिक निर्मल अशोकदशा होनेवाली ही है। सर्वज्ञ वीतरागरूप पूर्ण चैतन्यदशावाले हम होनेवाले ही हैं। हे भगवान! जैसा आपका रागादि दोषरहित पूर्ण स्वरूप है, वैसा ही मेरा स्वरूप है - ऐसा जानकर जो आपको नमस्कार करता है, वही पूर्ण दशा के समीप जाता है।

आशय यह है कि हे जिनेश! जिसे स्व-पर का भेदज्ञान है, वही आपको झुक-झुककर नमस्कार करनेवाला है। ऐसा भव्य जीव, अन्तर्मुख समीपतापूर्वक आपके समीप रहकर, उपदेश सुनकर, अज्ञान-भ्रान्तिरूप शोक से रहित होकर, स्वसन्मुख ज्ञाता हो जाता है - उसमें तो कोई आश्चर्य नहीं है परन्तु आपके समीप रहनेवाला जड़ वृक्ष भी अशोक हो जाता है। हे नाथ! यह सब आपकी महानता का ही दिग्दर्शन है। ● ●

काव्य २५

छत्तत्तयमालंबिय णिम्मल मुत्ताहलच्छला तुज्झ।
जणलोयणेसु वरिसइ अमयं पि व णाह बिंदूहिं॥

अर्थात् – हे भगवन्! हे नाथ! आपके जो ये तीनो छत्र हैं, वे लटकते हुए निर्मल मुक्ताफल के ब्याज से मनुष्यों की आँखों में बिन्दुओं (अश्रुओं) से अमृत की वर्षा करते हैं – ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ – हे भगवन्! जिस समय भव्य जीव आपके छत्र को देखते हैं, उस समय उनको इतना आनन्द होता है कि आनन्द के मारे उनकी आँखों से अश्रुपात होने लगता है।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! आपके ऊपर जो ये तीन छत्र हैं, उनमें जो मुक्ताफल के सुन्दर मोती झूलते हैं, उन्हें देखने से ऐसा लगता है कि हे नाथ! आपके दर्शन करने से भव्य जीवों की आँखों में से जो आनन्द-अश्रु बरसते हैं, उनके बिन्दुओं की बरसात ही हो।

हे भगवान! आपके दर्शन से किसे आनन्द नहीं होगा? भक्तों को स्वयं को अन्दर से आनन्द उल्लसित हुआ है, इस कारण जड़ में भी उसका आरोप / उपचार करके कहते हैं कि हे जिनेन्द्र!

आपको देखते ही भक्तजनों के नेत्रों में से जो आनन्द के अश्रुओं की वर्षा हुई, वही आपके छत्र के मोतीरूप से दिखायी देती है।

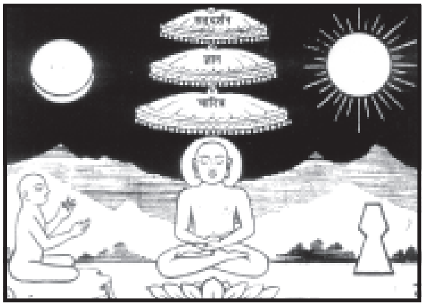

हे भगवान! आपको देखने से जीवों के रोम-रोम उल्लसित हो जाते हैं और आत्मा में आनन्द की निर्झर बहते हैं। हे भगवान! आपके ऊपर जो दिव्य तीन छत्र सुशोभित हैं, उन छत्रों में मुक्ताफल के मोती झूलते हैं। वे तो आपके दर्शन करते-करते मनुष्यों को जो आनन्द के अश्रु झलकते हैं, उनसे बने हुए हैं।

अहो! छत्र के मोतियों को देखने पर वहाँ भी आत्मा का आनन्द दिखता है परन्तु किसकी दृष्टि में? जिसे अन्तर में चिदानन्द -स्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई है.... आनन्ददशा प्रगट हुई है, वह कहता है कि हे नाथ! हमने ऐसे अपूर्व भाव से आपको कभी नहीं निहारा! अहो! आज धन्य भाग्य कि भगवान के दर्शन हुए.... आज हम कृतकृत्य हुए। अन्तर में अपने चिदानन्द भगवान को देखा है और बाहर में पूर्ण दशा प्राप्त परमात्मा को निहारने से धर्मी को उल्लास उछल जाता है। अहो मेरे नाथ! अनन्त काल में आपको कभी नहीं देखा था। आज मैंने आपको देखा.... मेरा जीवन धन्य हुआ और मेरे आत्मा में अमृत की धारा बरसी। हे भगवान! आपके दर्शन करते हुए आनन्द के अश्रु छलके, उनमें से मोती बने, वे आपके छत्र में झूल रहे हैं। इस प्रकार स्तुति की है। ● ●

काव्य २६

कयलोयलोयणुप्पलहरिसाइ सुरेसहत्थचलियाइं।
तुह देव सरइंससहरकिरणकयाइव्व चमराय॥

अर्थात् – जिन चमरों को देखने से समस्त लोक के नेत्ररूपी कमलों को हर्ष होता है और जिनको बड़े-बड़े इन्द्र ढोरते हैं – ऐसे हे जिनेन्द्र! आपके चँवर, शरदऋतु के चन्द्रमा की किरणों से बनाये गये हैं – ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ – अन्य ऋतु की अपेक्षा शरदऋतु में चन्द्रमा की किरण बहुत स्वच्छ तथा सफेद होती है, इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि हे भगवन्! आपके चँवर इतने स्वच्छ तथा सफेद हैं, जो कि ऐसे मालूम होते हैं मानों शरदकालीन चन्द्रमा की किरणों से ही बनाये हुए हैं और जिनको देखनेमात्र से समस्त लोक के नेत्रों को आनन्द होता है तथा जिनको बड़े-बड़े इन्द्र आकर ढोरते हैं।

काव्य पर प्रवचन

अब, भगवान के समवसरण में इन्द्र चँवर ढोरते हैं, उसमें अलंकार करके भगवान की स्तुति करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भगवान! जिन चँवरों को देखने से समस्त लोक के नेत्ररूपी

कमल हर्षित होते हैं और जिन्हें बड़े-बड़े इन्द्र ढोरते हैं - ऐसे आपके चँवर, शीतऋतु के चन्द्रमा की किरणों से बनाये गये हैं - ऐसा ज्ञात होता है।

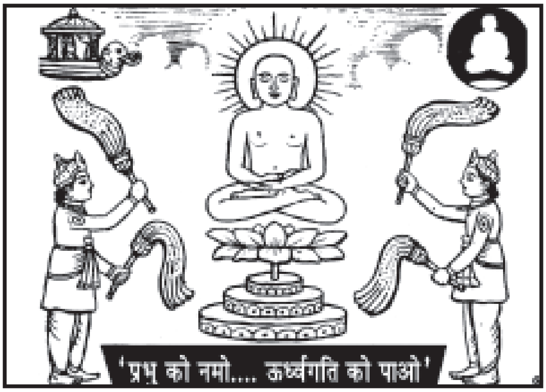

जिस प्रकार सुन्दर चँवर देखने से समस्त भक्तों के नेत्र कमलों को हर्ष होता है और बड़े-बड़े इन्द्र, आप पर चँवर ढोरते हैं; उसी प्रकार अन्तर्दृष्टि से देखने पर मैं आपके आत्मा की दिव्यता को ही देखता हूँ, कि पुण्य और पवित्रता की पूर्णता आपके पास ही है - ऐसे हे जिनेन्द्र! आपके जो चँवर, वे शीतऋतु की चन्द्रमा की किरणों से बने हुए हैं।

अतीन्द्रिय शान्त ज्ञानानन्दस्वभाव की परम शीतलतारूप स्वाभाविक आनन्द जिसे प्रगट हुआ है, उसे ऐसी उपमा घटित होती है - ऐसा कहकर विवेक और भक्ति का उत्साह बतलाते हैं।

देखो, यह स्तुतिकार पद्मनन्दि मुनिराज हैं। श्री पद्मनन्दि मुनिराज को प्रचुर वीतरागीदशा तो हो गयी है परन्तु अभी साधकदशा में छठवें गुणस्थान तक भगवान की भक्ति का शुभभाव आता है। वे स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे जिनेन्द्रदेव! आपको पूर्ण आनन्दमय अतीन्द्रिय केवलज्ञान प्रगट हुआ और साथ ही तीर्थङ्करनामकर्म का उदय हुआ है; समवसरण की विभूति की रचना हुई है।

हे प्रभु ! पूर्व में साधकदशा में जब आपने तीर्थङ्करनामकर्म बाँधा था, तब (भी आपको) पुण्य के राग का आदर नहीं था; ज्ञानानन्द चैतन्यस्वभाव की दृष्टि थी, तब तीर्थङ्करनामकर्म बँधा था। जिसे राग का आदर हो, उसे तीर्थङ्करनामकर्म नहीं बँधता है। प्रभो ! आपने राग को पहले से ही हेय तो गिना था; तत्पश्चात् राग सर्वथा मिटने पर तीर्थङ्करनामकर्म का उदय हुआ और समवसरण की रचना हुई है। प्रभो ! आपको तो कोई इच्छा नहीं है, आप पर समवसरण में भी सुन्दर चँवर ढुरते हैं, वे शरणऋतु के चन्द्रमा की किरणों से बने हुए हों – ऐसा भासित होता है। ● ●

स्वयं परमात्मा बन जाता है

हे सर्वज्ञ परमात्मा ! आप जगत् के आभूषण हो, तीन लोक की शोभा आपके कारण ही है; आपके केवलज्ञानादि गुणों के कारण ही हमारी शोभा है। गुणों के भण्डार, आपकी सेवा करने से हमें गुणों की प्राप्ति हो – इसमें क्या आश्चर्य है ? जो जिसकी सेवा करता है, वह उसके समान बन जाता है; इसलिए कहा है कि पारसमणि की अपेक्षा भी परमात्मा महान है, क्योंकि पारसमणि के स्पर्श से तो लोहा मात्र स्वर्ण बनता है, वह स्वयं पारस नहीं बनता, जबकि परमात्मा के सेवन से तो यह जीव स्वयं परमात्मा बन जाता है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य २७

विहलीकयपंचसरो पंचसरो जिण तुमम्मि काऊण।
अमरकयपुप्फविट्ठिछल इव बहु मुअइ कुसुमसरो॥

अर्थात् – हे भगवन्! हे जिनेन्द्र! आपके सामने जिस कामदेव के पाँचों बाण विफल हो गये हैं, ऐसा वह कामदेव, देवों के द्वारा आपके ऊपर की हुई जो पुष्पों की वर्षा के बहाने पुष्पों के बाणों का त्याग कर रहा है – ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ – आपके अतिरिक्त जितने देव हैं, उनको कामदेव ने बाण मार–मार कर वश में कर लिया; किन्तु हे प्रभो! जब वही कामदेव अपने बाणों से आपको भी वश करने आया, तब आपके सामने तो उसके बाण कुछ कर ही नहीं सकते थे, इसलिए उस कामदेव के समस्त बाण आपके सामने विकल हो गये; इससे ऐसा मालूम होता है कि जिस समय देवों ने आपके ऊपर फूलों की वर्षा की, उस समय वह फूलों की वर्षा नहीं थी, किन्तु अपने बाणों को योग्य न समझकर कामदेव अपने फूलों के बाणों को फेंक रहा था, क्योंकि संसार में यह बात देखने में भी आती है कि समय के बाद जो चीज काम नहीं देती है, उसको मनुष्य फिर छोड़ ही देता है।

काव्य पर प्रवचन

अब, समवसरण में पुष्पवृष्टि होती है, उसे स्मरण करके स्तुति करते हैं।

हे भगवान! कामदेव ने पाँच इन्द्रियों के विषयोंरूप कामबाण द्वारा आपको ललचाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु आप वीतरागता से चलित नहीं हुए; इसलिए कामदेव के पाँचों बाण निष्फल हो गये।

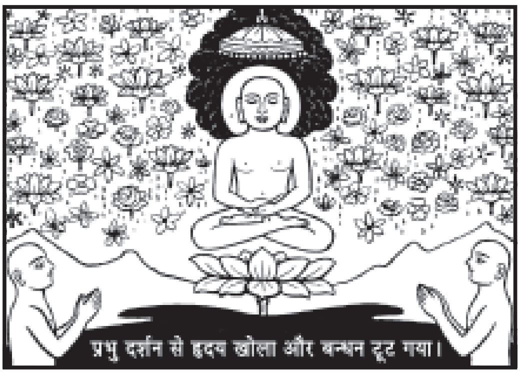
प्रभु दर्शन से हृदय खोला और बन्धन टूट गया।

जिस कामदेव ने विषयों के बाण द्वारा जगत् के जीवों को पराजित किया था, वह कामदेव आपके समक्ष पराजित हो गया है। हे भगवान! इस कारण कामदेव आपके समक्ष नम्रीभूत हो गया है और अपने बाणों को बिखेरकर आपके ऊपर पुष्पवृष्टि कर रहा है। इस प्रकार हे नाथ! आपके समवसरण में पुष्पवृष्टि होती है, वहाँ भी हमें तो आपका काम-अजेयपना ही दिखायी देता है।

देखो! स्तुति में अकेली बाहर की बात नहीं ली है परन्तु भगवान के गुणों को भी साथ ही साथ रखा है। भगवान की पवित्रता और पुण्य दोनों उत्कृष्ट हैं। यद्यपि धर्मात्मा जीव, भगवान के समवसरण की अचिन्त्य ऋद्धि को जानता है परन्तु धर्मी को उस पुण्य का आदर नहीं है; आदर तो स्वभाव का ही है।●●

काव्य २८

एस जिणो परमप्पा णाणोण्णाणं सुणेह मा वयणं।
तुह दुंदुही रसंतो कहइ व तिजयस्स मिलियस्स॥

अर्थात् – हे भगवन्! बजती हुई आपकी दुन्दुभि (नगाड़ा) तीनों लोक को इकट्ठा कर यह बात कहती है कि हे जीवों! यदि वास्तविक परमात्मा हैं तो भगवान आदिनाथ ही हैं, किन्तु इनसे भिन्न परमात्मा कोई भी नहीं; इसलिए तुम इनसे अतिरिक्त दूसरे का उपदेश मत सुनो, इन्हीं भगवान के उपदेश को सुनो।

भावार्थ – मङ्गल काल में जिस समय आपकी दुन्दुभि, आकाश में शब्द करती है, अर्थात् बजती है; उस समय उसके बजने का शब्द निष्फल नहीं है, किन्तु वह इस बात को पुकार –पुकार कर कहती है कि हे भव्य जीवों! यदि तुम परमात्मा का उपदेश सुनना चाहते हो तो भगवान श्री आदिनाथ का दिया हुआ उपदेश सुनो, किन्तु इनसे भिन्न जो दूसरे–दूसरे देव हैं, उनके उपदेश को अंशमात्र भी मत सुनो, क्योंकि यदि परमात्मा हैं तो श्री आदीश्वर भगवान ही हैं, किन्तु इनसे भिन्न लोक में दूसरा परमात्मा नहीं है।

काव्य पर प्रवचन

अब, भगवान के समवसरण में जो दिव्य दुन्दुभि नाद होता है, उसमें अलंकार करके स्तुति करते हैं।

देव–दुन्दुभि कहती है कि अरे जीवों! जगत में सर्वोत्तम परमात्मा तो यह भगवान ऋषभदेव ही हैं। चलो! तुम्हें धर्म प्राप्त करना हो तो इन भगवान के पास आओ।

अरे जीवों! वास्तविक आत्मा का ज्ञान करके, कल्याण करना हो तो यहाँ इस समवसरण में भगवान के पास आओ। हे नाथ! आपके समवसरण में नगाड़े में ऐसी ध्वनि हमें सुनाई देती है।

मङ्गल काल में जिस समय आपकी दुन्दुभि आकाश में शब्द करती है, अर्थात् बजती है, उस समय उसके बजने का शब्द निष्फल नहीं है परन्तु वह पुकार करके कहती है कि हे भव्य जीवों! यदि तुम परमात्मा का उपदेश सुनना चाहते हो तो भगवान श्री आदिनाथ द्वारा प्रदान किया गया उपदेश ही सुनो, परन्तु इनसे भिन्न जो अन्य देव हैं, उनके उपदेश को अंशमात्र भी मत सुनो, क्योंकि आदीश्वर भगवान ही परमात्मा हैं, इनसे भिन्न अन्य कोई परमात्मा नहीं है।● ●

काव्य २९

रविणो संतावयरं ससिणो उण जड्डयाअरं देव।
संतावजडत्तहरं तुम्हच्चिय पहु पहावलयं॥

अर्थात् – हे जिनेश्वर! हे प्रभो! सूर्य का प्रभा समूह तो मनुष्यों को सन्ताप का करनेवाला है तथा चन्द्रमा का प्रभा समूह, जड़ता का करनेवाला है, किन्तु हे पूज्यवर! आपका प्रभा समूह तो सन्ताप व जड़ता, दोनों को नाश करनेवाला है।

भावार्थ – यद्यपि संसार में बहुत से तेजस्वी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु हे पूज्यवर! हे प्रभो! आपके सामने कोई भी तेजस्वी पदार्थ उत्तम नहीं है क्योंकि हम यदि सूर्य को उत्तम तेजस्वी पदार्थ कहें, तो हम कह नहीं सकते क्योंकि उसकी प्रभा का समूह मनुष्यों को अत्यन्त सन्ताप का करनेवाला है। यदि चन्द्रमा को हम उत्तम तथा तेजस्वी पदार्थ कहें तो यह भी बात नहीं बन सकती, क्योंकि चन्द्रमा की प्रभा का समूह जड़ता का करनेवाला है, किन्तु हे जिनवर! आपकी प्रभा का समूह तो सन्ताप और जड़ता दोनों का सर्वथा नाश करनेवाला है, इसलिए आपकी प्रभा का समूह ही उत्तम तथा सुखदायक है।

काव्य पर प्रवचन

अब, भामण्डल की बात उठाकर स्तुति करते हैं।

देखो, धर्मात्मा को जगत में सूर्य-चन्द्र की महिमा नहीं है परन्तु त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव की महिमा उसके हृदय में निवास करती है। धर्मी जीव, सूर्य-चन्द्र को नमस्कार नहीं करता; सूर्य-चन्द्र में शाश्वत् जिनबिम्ब हैं; भरत चक्रवर्ती सूर्य के विमान में स्थित उन जिनबिम्ब को नमस्कार करते थे। यहाँ तो भगवान के समवसरण में भामण्डल होता है, वह सूर्य-चन्द्र से भी अधिक तेजस्वी है।

हे नाथ! आपको केवलज्ञान की दिव्यप्रभा प्रगट हुई है, आपके आत्मा की अचिन्त्य प्रभा है; उसकी तुलना में दूसरा कोई तेजस्वी पदार्थ इस जगत में नहीं है। हे भगवान! आपके केवलज्ञान की प्रभा तो जीवों को आनन्द देनेवाली है और जड़ता का नाश करनेवाली है। सूर्य की प्रभा तो लोगों को सन्ताप करनेवाली है और आपकी प्रभा तो लोगों को शान्ति करनेवाली है तथा चन्द्रमा की प्रभा तो रात्रि में जड़ता करनेवाली है और आपकी दिव्यप्रभा तो लोगों को शान्ति प्राप्त करानेवाली है, लोगों की जड़ता को हरनेवाली है, ज्ञान की जागृति करनेवाली है।

हे भगवान! आपकी आत्मा के ज्ञानप्रवाह की तो क्या बात! परन्तु आपके शरीर की प्रभा भी रात्रि के अन्धकार का नाश करनेवाली है। भगवान के समवसरण में अन्धकार नहीं होता, हजारों सूर्य-चन्द्र के तेज से भी भगवान के शरीर का तेज अधिक होता है।

देखो, कल भाद्र शुक्ल पंचमी है। यह सनातन दिगम्बर जैनधर्म में दशलक्षण का पहला दिन है। अनादि वीतरागमार्ग में यही वास्तविक पर्यूषण है। भाद्र शुक्ल पंचमी से शुरु करके चौदश तक के दश दिन, वह उत्तम क्षमादि दश धर्मों के दिन हैं। यह उत्तम क्षमादि धर्म मुनियों के धर्म हैं, यह चारित्र के प्रकार हैं। भाद्र शुक्ल पञ्चमी के पूर्व के दिन, वे वास्तविक पर्यूषण नहीं है परन्तु यह बात पात्र होकर सुने तो ही समझ में आने योग्य है। अभी तो वाद-विवाद में पड़े हुए लोगों को सत्य बात सुनना भी कठिन हो गयी है। भाद्र शुक्ल पञ्चमी उत्तम क्षमाधर्म का महान दिन है। भाद्र शुक्ल चतुर्दशी तो अनन्त चतुर्दशी का महान दिन है। सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि में जो मार्ग कहा है, उस मार्ग में सनातन पर्यूषण भाद्र शुक्ल पञ्चमी से शुरु होता है।* ●●

* यह प्रवचन भाद्र शुक्ल चतुर्थी के दिन का है।

काव्य ३०

मंदरमहिज्जमाणांबुरासिणिग्घोससण्णिहो तुज्झ।
वाणी सुहा ण अण्णा संसारविसस्सणासयरी॥

अर्थात् – हे भगवन! हे जिनेश्वर! मन्दराचल से मंथन किये गये समुद्र के निर्घोष (बड़ा भारी शब्द) के समान आपकी वाणी शुभ है, किन्तु अन्य वाणी शुभ नहीं तथा आपकी वाणी ही संसाररूपी विष का नाश करनेवाली है, किन्तु अन्य दूसरी वाणी संसाररूपी विष का नाश करनेवाली नहीं है।

भावार्थ – हे भगवन्! यद्यपि संसार में बहुत से बुद्ध प्रभृति देव मौजूद हैं और उनकी वाणी भी मौजूद है, किन्तु हे प्रभो! जैसी आपकी वाणी (दिव्यध्वनि) शुभ तथा उत्तम है, वैसी बुद्ध आदि की वाणी नहीं है क्योंकि आपकी वाणी, अनेकान्तस्वरूप पदार्थ का वर्णन करनेवाली है और उनकी वाणी, एकान्तस्वरूप पदार्थ का वर्णन करनेवाली है। वस्तु अनेकान्तात्मक ही है, एकान्तात्मक नहीं। आपकी वाणी समस्त संसाररूपी विष को नाश करनेवाली है, किन्तु बुद्ध आदि की वाणी, संसाररूपी विष को नाश करनेवाली नहीं, बल्कि संसाररूपी विष को उत्कृष्ट करनेवाली ही है। आपकी

वाणी मन्दराचल से जिस समय समुद्र का मन्थन हुआ था और जैसा उस समय शब्द हुआ था, उसी शब्द के समान उन्नत तथा गम्भीर है।

काव्य पर प्रवचन

अब, भगवान की दिव्यध्वनि का वर्णन करके स्तुतिकार स्तुति करते हैं।

हे भगवान! जगत् में आपकी दिव्यवाणी ही सर्वश्रेष्ठ है। भगवान को भेदवाली, क्रमवाली वाणी नहीं होती है परन्तु ॐ – ऐसी एकाक्षरी वाणी होती है। उसे सुननेवाले अपनी–अपनी भाषा में अपनी योग्यता प्रमाण समझ जाते हैं।

हे भगवान! वाणी तो जगत् में दूसरे जीवों को भी है परन्तु आपके जैसी वाणी तो जगत् में किसी को नहीं है। आपकी वाणी ही शुभ है, पवित्र है क्योंकि आपकी वाणी ही संसार का नाश करनेवाली है। लाख योजन का मन्दराचल मेरु लेकर उससे समुद्र का मन्थन करने से जैसी गम्भीर आवाज होती है, उसके जैसी महान गम्भीर आपकी दिव्यध्वनि है। आपके सम्पूर्ण शरीर से ॐ ध्वनि का गम्भीर नाद छूटता है, उसे सुनते ही जीव स्तम्भित हो जाते हैं कि आहा! यह वाणी आत्मा के स्वभाव को बतलानेवाली

है। यह वाणी सुनने के लिए बड़े सिंह और सर्प भी शान्त... शान्त होकर स्तम्भित हो जाते हैं।

हे नाथ! आपकी वाणी झेलने से आत्मा का अनादि का मिथ्यात्वरूपी जहर उतर जाता है; इस कारण आपकी वाणी ही शुभ है। हे वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा! दिव्यवाणी में आपको यही कहना है कि जिस प्रकार राग-द्वेष-मोहरूप संसारभाव का नाश हो और आत्मा के परमानन्दस्वभाव के सम्मुख होकर मोक्षदशा उत्पन्न हो! जो कोई वाणी, राग को पोषण दे, वह वाणी मिथ्या है।

हे नाथ! जो यह कहते हैं कि राग से धर्म होता है, वह आपकी वाणी नहीं है। आपकी वाणी तो राग का नाश करानेवाली है। राग से धर्म होता है - ऐसा मनानेवाली वाणी अशुभ है, मिथ्या है।

हे नाथ! वीतरागता को बतलानेवाली आपकी दिव्यवाणी के अतिरिक्त हम दूसरे की वाणी का आदर नहीं करते हैं। हे नाथ! आप तो वीतराग.... परन्तु आपकी वाणी भी वीतरागता की ही पोषक है। आपके अतिरिक्त अन्य कुदेवों की वाणी तो संसार की पोषक है और अज्ञानियों की कल्पित वाणी अशुभ है-मिथ्या है।

हे भगवान! हम संसार का नाश करने के लिए जागृत हुए हैं तो उसमें आपकी वीतराग वाणी ही हमें निमित्त है; दूसरे की वाणी को हम निमित्तरूप से भी स्वीकार नहीं करते हैं।

आत्मा स्व-रूप से है; पर-रूप से नहीं है। अविकारीरूप से धर्म है, शुभाशुभरागरूप से धर्म नहीं है। एक द्रव्य में अनन्त गुण हैं परन्तु एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता। आत्मा त्रिकाली द्रव्यरूप से शुद्ध है और वर्तमान संसारदशा से अशुद्ध है परन्तु स्वभाव है, वह अशुद्ध नहीं है। इस प्रकार अस्ति-नास्ति से जो वस्तु का

अनेकान्तमय स्वरूप है, उसे बतलानेवाली आपकी दिव्यवाणी है और वही संसाररूपी जहर का नाश करानेवाला अमृत है।

जिसकी वाणी, शुभाशुभभाव से अथवा निमित्त से लाभ मनवाती है और व्यवहार करते-करते धर्म हो जाएगा - ऐसा बतलाती है, वह वाणी, जहर के समान है।

दया, दान, भक्ति, व्रत, तप के विकल्प, वह अशुद्धतारूपी संसार है, उससे धर्म नहीं होता है - ऐसी वाणी का ही हम आदर करनेवाले हैं। हे भगवान! आपकी वाणी, वाणी का आश्रय करानेवाली नहीं परन्तु चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन करानेवाली है। ऐसी आपकी वाणी ही ज्ञानियों को आदरणीय है और उसके फल से वे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

हे भगवान! ऐसी दिव्यध्वनि एक आपको ही है। हे प्रभु! वीतरागी सन्तों की परम्परा में हमें आपकी जो वाणी प्राप्त हुई, वह भी हमारे लिये तो दिव्यध्वनि ही है। ● ●

वाह! ऐसी अद्भुत भक्ति

हे जीव! यदि वीतराग सर्वज्ञ-भगवान के प्रति तेरे चित्त में भक्ति उल्लसित नहीं होती तो तेरा चित्त पत्थर के समान है, वह खिलेगा नहीं। प्रभु के गुणगान की गुञ्जार सुनते ही भक्त का हृदय फूल के समान खिल जाता है। वाह! ऐसी अद्भुत भक्ति और ऐसे अद्भुत गुण!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य ३१

पत्ताण सारणिं पिव तुज्झ गिरं सा गई जडाणं पि।
जा मोक्खतरुट्ठाणे असरिसफलकारणं होई॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेश! जो अज्ञानी जीव, आपकी वाणी को प्राप्त कर लेते हैं, उन अज्ञानी जीवों की भी वह गति होती है, जो गति, मोक्षरूपी वृक्ष के स्थान में अत्युत्तम फल प्राप्ति की कारण होती है।

भावार्थ – जो जीव ज्ञानी हैं, वे आपकी वाणी को पाकर मोक्ष–स्थान में जाकर उत्तमफल को प्राप्त होते हैं, इसमें तो किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं, किन्तु हे भगवन! अज्ञानी पुरुष आपकी वाणी का आश्रय कर मोक्ष–स्थान में उत्तम फल को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार नदी, वृक्ष के पास जाकर उत्तम फलों की उत्पत्ति में कारण होती है; उसी प्रकार आपकी वाणी भी उत्तम फलों की उत्पत्ति में कारण है; इसलिए आपकी वाणी उत्तम नदी के समान है।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! ज्ञानियों की तो क्या बात! ज्ञानी तो आपकी वाणी सुनकर अन्तरङ्ग में उतरकर केवलज्ञान और मोक्षरूपी फल को

तुरन्त ही प्राप्त करते हैं परन्तु अज्ञानी जीवों को भी आपकी वाणी, उत्तम गति का कारण होती है।

हे नाथ! आपकी वाणी सुनने से सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र प्रगट करके कोई जीव को अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। हे नाथ! अज्ञानी जीव भी, आपकी वाणी सुनने से धर्म को समझकर, अज्ञान का नाश करके, अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करता है। सम्यक्त्वी जीव भी क्रमशः केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

जिस प्रकार बड़ा पक्षी तो उड़कर आम्रवृक्ष पर जाकर फल चखता है और चींटी मूल - तने को पकड़कर धीमे-धीमे ऊपर जाकर भी उसी फल को प्राप्त करती है। इसी प्रकार हे नाथ! आपकी वाणी सुनकर अन्तर में उतारने से बड़े-बड़े मुनिराज तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके (पूर्णता करके) शीघ्र मोक्ष प्राप्त करते हैं और सम्यक्त्वी जीव, जिन्होंने मूल चैतन्यस्वभाव को पकड़ा है, वे जीव भी क्रमशः मुक्तदशा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार आपकी वाणी उत्तम नदी के समान है।● ●

काव्य ३२

पोयं पिव तुह पवयणम्मि सल्लीणा फुड़महो कयजडोहं।
हेलाए च्चिय जीवा तरंति भवसायरमणंतं॥

अर्थात् – जिस प्रकार जिन मनुष्यों के पास जहाज मौजूद है, वे मनुष्य उस जहाज में बैठकर, जिसमें बहुत-सा जल का समूह विद्यमान है, ऐसे समुद्र को बात की बात में तिर जाते हैं। उसी प्रकार हे पूज्य! हे जिनेश! जो मनुष्य आपके वचन में लीन हैं अर्थात् जिन मनुष्यों को आपके वचन पर श्रद्धान है, बड़े आश्चर्य की बात है कि वे मनुष्य भी पलमात्र में, जिसका अन्त नहीं है, ऐसे संसाररूपी सागर को तिर जाते हैं।!

भावार्थ – हे प्रभो! इस समय संसार में जितने जीव हैं, सब सामान्यतया अज्ञानी हैं। उनको स्वयं वास्तविक मार्ग का ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि हो सकता है तो आपके वचन में श्रद्धान रखने पर ही हो सकता है; इसलिए हे प्रभो! जिन मनुष्यों को आपके वचनों पर श्रद्धान है, वे मनुष्य अनन्त संसार-समुद्र को बात की बात में तिर जाते हैं, किन्तु जो मनुष्य आपके वचनों में श्रद्धान नहीं रखते, वे इस संसार-समुद्र से पार नहीं हो सकते। जिस प्रकार

जहाजवाला ही समुद्र को पार कर सकता है और जिसके पास जहाज नहीं, वह नहीं कर सकता।

काव्य पर प्रवचन

स्तुतिकार कहते हैं कि जिन मनुष्यों के पास जहाज विद्यमान है, जिस प्रकार वे मनुष्य जहाज में बैठकर, जिसमें बहुत जल का समूह है – ऐसे समुद्र को भी शीघ्र तिर जाते हैं; उसी प्रकार हे पूज्य! जिन मनुष्यों को आपके वचन पर श्रद्धा / विश्वास है, वे क्षणमात्र में अन्तहीन संसाररूपी समुद्र को तिर जाते हैं। ● ●

काव्य ३३

तुह वयणं चिय साहइ णूणमणेयंतवायवियडपहं।
तह हिययपईपअरं सव्वत्तणमप्पणो णाह॥

अर्थात् – हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आपके वचन ही निश्चय से अनेकान्तवादरूपी विकट मार्ग को सिद्ध करते हैं। हे नाथ! आपका सर्वज्ञपना समस्त मनुष्यों के हृदयों को प्रकाश करनेवाला है।

भावार्थ – संसार में जितने पदार्थ हैं, वे समस्त पदार्थ अनेक धर्मस्वरूप हैं। जब और जिस वाणी से उन पदार्थों के अनेक धर्मों का वर्णन किया जाएगा, तभी उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप समझा जाएगा, किन्तु दो-एक धर्म के कथन से उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

हे भगवन्! आपके अतिरिक्त जितने देव हैं, उन सबकी वाणी एकान्तमार्ग को ही सिद्ध करती है, इसलिए उनकी वाणी, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं कह सकती, किन्तु आपकी वाणी ही अनेकान्तमार्ग को सिद्ध करनेवाली है; इसलिए वही पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन कर सकती है। आपके सर्वज्ञपने से भी समस्त मनुष्यों के हृदय का प्रकाश होता है, अर्थात्

जिस समय आप उनको यथार्थ उपदेश देते हैं, उस समय उनके हृदय में भी वास्तविक पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

काव्य पर प्रवचन

ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टिपूर्वक की यह स्तुति है। श्री पद्मनन्दि मुनिराज स्तुति करनेवाले हैं। वे कहते हैं –

हे भगवान! अनेकान्तरूपी जो विकट मार्ग, उसे आपके वचन ही सिद्ध करते हैं। देखो, पर्याय में विकार होता है, उसे स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से आत्मा का न कहने से जड़ का कहा है परन्तु पर्याय-अपेक्षा से तो वह अपनी ही पर्याय में होता है। पर्याय-अपेक्षा से विकार निश्चय से आत्मा का है परन्तु वह आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है, इस अपेक्षा से उसे व्यवहार कहा है। इस प्रकार हे नाथ! निश्चय-व्यवहाररूप विकट अनेकान्तमत का आप ही प्रकाश करनेवाले हैं; आपके अतिरिक्त दूसरा कोई अनेकान्तमत को कहनेवाला नहीं है।

हे भगवान! शुद्ध उपादानदृष्टि से आत्मा के स्वरूप में विकार नहीं है और फिर क्षणिक पर्याय के अशुद्ध उपादान की अपेक्षा से विकार का कर्ता आत्मा है – ऐसा अनेकान्तस्वरूप आपने ही प्रकाशित किया है।

सर्वज्ञदेव के ज्ञान में तीन काल-तीन लोक के पदार्थ जैसे प्रतिभासित हुए, वैसे क्रमबद्ध परिणमन होता ही है, उसमें फेरफार होता ही नहीं और फिर भी उसका निर्णय करने में समकित का अनन्त पुरुषार्थ भी आता है। इस प्रकार हे भगवान! आपका सर्वज्ञपना सम्पूर्ण जगत के समस्त जीवों के हृदय में प्रकाश करनेवाला है।

भगवान तो पर हैं, वे कहीं दूसरे के हृदय में प्रकाश नहीं करते हैं परन्तु जो जीव, भगवान के केवलज्ञान का अपने ज्ञान में निर्णय करता है, उस जीव को अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हो जाती है और उसके अन्तर में ज्ञानप्रकाश खिल जाता है; इसलिए निमित्तरूप से भगवान ने उसके हृदय में प्रकाश किया है – ऐसा कहा जाता है।

हे जिनेन्द्र! जहाँ आपकी सर्वज्ञता का निर्णय किया, वहाँ ज्ञानस्वभाव का विश्वास हुआ। रागरहित पूर्ण जानने-देखने का मेरा स्वभाव है – ऐसी प्रतीति होने से अन्तर में ज्ञानप्रकाश होता है।

जो जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहुँ नहीं होसी, काहे होत अधीरा रे॥

– ऐसा भैया भगवतीदास ने कहा है परन्तु इसकी प्रतीति करने में अन्तर के ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति हो जाती है। ज्ञायक की प्रतीति हुए बिना क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति नहीं होती है। इसलिए यहाँ कहा है कि हे सर्वज्ञभगवान! जो आपकी प्रतीति करता है, उसे अपने ज्ञानानन्दस्वरूप का निर्णय होने पर अन्तर में ज्ञानप्रकाश खिल जाता है। इस कारण आप भव्यजीवों के हृदय में ज्ञानप्रकाश करनेवाले हो। यहाँ स्तुति है, इसलिए निमित्त से कथन किया है।

आशय यह है कि जितने पदार्थ हैं, वे सब अनेक धर्मस्वरूप हैं। जब एक ही वाणी से उन पदार्थों के अनेक धर्मों का वर्णन किया जाता है, तब उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप समझ में आता है परन्तु थोड़े धर्मों के कथन से उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आ सकता है।

हे भगवान! आपसे अन्य जितने देव हैं, उन सबकी वाणी एकान्तमार्ग को ही सिद्ध करती है, इसलिए उनकी वाणी, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं कह सकती है परन्तु आपकी वाणी ही अनेकान्तमार्ग को सिद्ध करनेवाली है; इसलिए पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करती है तथा आपके सर्वज्ञपने से भी सर्व मनुष्यों के हृदय में प्रकाश होता है, अर्थात् जिस समय आप उन्हें यथार्थ उपदेश देते हैं, उस समय उनके हृदय में भी वास्तविक पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

हे भगवान आप सर्वज्ञ हुए, और सर्वज्ञता से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का स्वरूप जानकर, आपने जो दिव्य उपदेश किया, उसके द्वारा भव्य जीवों के हृदय में प्रकाश हो जाता है।

हे भगवान! आपने अपना प्रकाश दिया, इसलिए मैं तो कहता हूँ कि आप तो सम्पूर्ण जगत को प्रकाश प्रदान करनेवाले हैं।● ●

अल्प काल में केवलज्ञान लेकर ही रहूँगा

अहा! देखो तो सही! दिगम्बर मुनिराज की पुकार। परमात्मपद की झंकार के अतिरिक्त दूसरी बात नहीं है। प्रभो! आपके केवलज्ञानादि अद्‌भुत गुणों को देखते ही हमारा आत्मा, राग से भिन्न होकर केवलज्ञान की साधना में लग गया है। अब, अल्प काल में केवलज्ञान लेकर ही रहूँगा।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य ३४

विप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइसुइबलेण केवलिणो।
वरदिट्ठिदिट्ठणहजंतपक्खिगणणेवि सो अंधो।

अर्थात् – हे भगवन्! जो मनुष्य, मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान के ही बल से आप केवली के वचन में विवाद करता है, वह मनुष्य उस प्रकार का काम करता है कि जैसे, अच्छी दृष्टिवाले मनुष्य द्वारा देखे हुए आकाश में जाते हुए पक्षियों की गणना में जिस प्रकार अन्धा संशय करता है।

भावार्थ – जिसकी दृष्टि तीक्ष्ण है – ऐसा कोई मनुष्य यदि आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की गणना करे और उस समय कोई पास में बैठा हुआ अन्धा पुरुष उससे पक्षियों की गणना में विवाद करे तो जैसे उस सूझते पुरुष के सामने उस अन्धे का विवाद करना निष्फल है; उसी प्रकार हे प्रभो! हे जिनेश! यदि कोई केवल मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का धारी आपके वचन में विवाद करे तो उसका भी विवाद करना निरर्थक ही है, क्योंकि आप केवली हैं तथा ज्ञान में समस्त लोक और अलोक के पदार्थ हाथ की रेखा के समान झलक रहे हैं और वह प्रतिवादी मनुष्य, मतिज्ञान–श्रुतज्ञान का धारी होने के कारण थोड़े ही पदार्थों का ज्ञाता है।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! जो मनुष्य, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बल से आप केवलज्ञानी के वचनों में विवाद करता है, वह मनुष्य इस प्रकार का काम करता है कि अच्छी दृष्टिवाले मनुष्य के द्वारा आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की गिनती में जैसे अन्ध मनुष्य संशय करता है।

हे भगवान! जिसे ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि विकसित हो गयी है, वह तो आपकी यथार्थ स्तुति करता है और आपके वचन में संशय नहीं करता परन्तु जो जीव, मिथ्यादृष्टि है, जिसे अभी सम्यग्ज्ञान की चक्षु खुली नहीं है और कुमति-कुश्रुतज्ञान से आपके वचन में संशय करता है, वह अन्ध जैसा है। जैसे अन्ध मनुष्य, आकाश में उड़ते हुए बगुले आदि गिनने में सूझते मनुष्य के साथ वाद-विवाद करता है; इसी प्रकार जो अज्ञानी जीव आपकी वाणी में सन्देह करता है, वह मिथ्यादृष्टि अन्ध जैसा है।

जगत् में अनन्त जीव हैं, सूर्य-चन्द्र घुमते हैं और पृथ्वी स्थिर रहती है – इत्यादि बात सर्वज्ञदेव ने कही है। उसमें सन्देह करनेवाला अन्ध जैसा है। जैसे, ताजा घी का स्वाद वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता तो अतीन्द्रिय स्वानुभव-प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना जा सकता है – ऐसे सर्वज्ञ भगवान को अज्ञानी नहीं जान सकता, उसमें क्या ? ●●

काव्य ३५

भिण्णाण परणयाणं एक्केक्कमसंगयाणया तुज्झ।
पावंति जयम्मि जयं मज्झम्मि रिऊण किं चित्तं॥

अर्थात् – हे भगवन्! हे प्रभो! आपके नय, परस्पर में सम्बन्ध नहीं रखनेवाले, भिन्न-भिन्न, ऐसे परवादियों के नय (कुनय) रूपी वैरियों के मध्य में तीनों जगत में विजय को प्राप्त होते हैं; इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं।

भावार्थ – परस्पर में सम्बन्ध नहीं रखनेवाले तथा एक-दूसरे के विरोधी ऐसे शत्रु, जिनमें एकता है तथा एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं; ऐसे योद्धाओं के द्वारा जिस प्रकार बात की बात में जीत लिये जाते हैं तो जैसे उन शत्रुओं को जीतने में कोई आश्चर्य नहीं है; उसी प्रकार के प्रभो! जो परवादियों के नय परस्पर में एक-दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखनेवाले हैं, भिन्न-भिन्न हैं; ऐसे उन नयों को यदि परस्पर में सम्बन्ध रखनेवाले तथा अभिन्न आपके नय जीत लेवें तो इसमें क्या आश्चर्य है? कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

काव्य पर प्रवचन

हे प्रभु! पारस्परिक सम्बन्ध नहीं रखनेवाले तथा भिन्न

परवादियों के नयरूपी वैरियों के मध्य में आपके नय वचन लोक में विजय को प्राप्त होते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

शास्त्र में अनेक प्रकार के कथन आते हैं, परन्तु शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ – ऐसे पाँच प्रकार से अर्थ करने पर भी सच्चा अर्थ समझ में आता है। शास्त्र में निमित्त से कथन किया हो तो समझना चाहिए कि यह व्यवहारनय का – उपचार का कथन है। निश्चय से कहते हैं कि निमित्त से किसी परद्रव्य का काम नहीं होता है।

जीव ने विकार किया तो कर्मबन्ध हुआ – ऐसा व्यवहार का कथन है और इस कथन का प्रयोजन निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है; निश्चय से तो कर्म, पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय होने से जीव के कारण कर्मरूप अवस्था नहीं होती है – ऐसा जाने तो निमित्त का कथन व्यवहार से है – ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है।

तीर्थङ्करनामकर्म सोलह प्रकार की भावनाओं से बनता है, इसका अर्थ क्या? यही कि इस प्रकार की जिस जीव की योग्यता हो और वह कर्म बँधे तो उसके शुभभाव को निमित्त कहा जाता है। इस प्रकार सम्यक् अर्थ समझे तो विपरीत मान्यता का अभाव होता है परन्तु एकान्त से एक बात को पकड़कर दूसरे धर्म का / स्वभाव का निषेध करे तो वह अन्यमती मिथ्यादृष्टि है और उसके समस्त मिथ्यापक्ष को, हे भगवान! आपकी वाणी द्वारा सम्यक् अभिप्रायवाले जीव भी बात ही बात में जीत लेते हैं। ● ●

काव्य ३६

अण्णस्स जए जीहा कस्स सयाणस्स वण्णणे तुज्झ।
जच्छ जिण तेवि जाया सुरगुरुपमुहा कई कुंठा॥

अर्थात् – हे जिनेश! हे प्रभो! ऐसा संसार में कौन–सा पुरुष समर्थ है कि जिसकी जिह्वा उत्तम ज्ञान के धारक आपका वर्णन करने में समर्थ हो? क्योंकि बृहस्पति आदि जो उत्तम कवि हैं, वे भी आपका वर्णन करने में मन्दबुद्धि हैं।

भावार्थ – संसार में बृहस्पति के बराबर पदार्थों के वर्णन करने में दूसरा कोई उत्तम कवि नहीं है क्योंकि वे इन्द्र के भी गुरु हैं, किन्तु हे जिनेन्द्र! आपका गुणानुवाद करने में वे भी असमर्थ हैं, अर्थात् उनकी बुद्धि में भी यह सामर्थ्य नहीं, जो आपका गुणानुवाद वे कर सकें क्योंकि आपके गुण संख्यातीत तथा अगाध हैं। जब बृहस्पति की जिह्वा भी आपके गुणानुवाद करने में हार मानती है, तब अन्य साधारण मनुष्यों की जिह्वा आपका गुणानुवाद कर सके – यह बात सर्वथा असम्भव है।

काव्य पर प्रवचन

हे जिनेश! संसार में ऐसा कौन समर्थ पुरुष है? जिसकी वाणी

उत्तम ज्ञान के धारक आपका वर्णन कर सके क्योंकि बृहस्पति आदि जो उत्तम कवि भी आपका वर्णन करने में मन्दबुद्धि हैं।

हे जिनेश! संसार में ऐसा कौन समर्थ है कि जो आपके गुणों का सम्पूर्ण वर्णन कर सकता है। शब्द तो संख्यात हैं, आयु थोड़ी है और गुण अनन्त हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि मैं तो अल्पशक्तिवाला हूँ; आपके अनन्त गुण का सम्पूर्ण वर्णन-स्तवन कैसे कर सकता हूँ? परन्तु भक्ति का उत्साह मुझे बुलवाता है।

हे भगवान! आपके केवलज्ञान का सम्पूर्ण स्तवन करने की सामर्थ्य तो मुझमें नहीं है परन्तु हे प्रभु! आपके गुणों के प्रति आदर और भक्ति का भाव उत्पन्न हुआ है; इसलिए आपकी स्तुति करता हूँ। आपकी सम्पूर्ण स्तुति तो यह राग तोड़कर निर्विकल्प होऊँगा और केवलज्ञान प्राप्त करूँगा, तब होगी परन्तु हे प्रभु! अपने प्रिय बच्चों की रक्षा करने के लिए अपने बल का विचार किये बिना हिरनी भी सिंह के समक्ष होती है। उसी प्रकार हे प्रभु! मैं मति-श्रुतज्ञानी होने पर भी अन्तर में सर्वज्ञता का बहुमान और प्रीति लाकर मैं आपकी स्तुति करता हूँ। ● ●

वीतरागी चैतन्यपद की महिमा है

धर्मी जीव, पुण्य के पीछे भी वीतरागी देव-गुरु को ही निमित्तरूप देखता है। जगत् में तीर्थङ्करपद या चक्रवर्ती-इन्द्रादि महान पुण्यपद, जैनधर्म के आराधक को ही मिलते हैं – ऐसा उत्तम पुण्य अन्य किसी को नहीं बँधता है; फिर भी धर्मी को पुण्य से पार वीतरागी चैतन्यपद की महिमा है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य ३७

सो मोहत्थेण रहि ओ पयासिओ पहु सुपहो तएवईया।
तेणाज्जवि रयणजुआ णिव्विग्घं जंति णिव्वाणं॥

अर्थात् – हे प्रभुओं के प्रभु! हे जिनेन्द्र! आपने उस समय मोहरूपी चोर से रहित उत्तममार्ग का प्रकाश किया था; इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के धारी भव्य जीव इस समय भी उस मार्ग से ही बिना क्लेश के मोक्ष को चले जाते हैं।

भावार्थ – यदि मार्ग साफ तथा चोरों के भय से रहित होवे तो मनुष्य जिस प्रकार बिना विघ्न के उस मार्ग से चले जाते हैं। उस प्रकार हे भगवन्! आपने भी जिस मार्ग का उपदेश दिया है, वह मार्ग भी साफ तथा सबसे बलवान मोहरूपी चोर से रहित है; इसलिए जो भव्य जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय के धारी हैं, वे बिना किसी विघ्न के सुख से उस मार्ग से मोक्ष को चले जाते हैं।

सारार्थ – मोक्षमार्ग में गमन करनेवाले प्राणियों को यदि कोई रोकनेवाला है तो मोहरूपी चोर ही है, इसीलिए भव्य जीव सहसा मोक्ष को नहीं जाते, परन्तु हे भगवन्! आपने मोहरहित मार्ग का

वर्णन किया है, इसलिए भव्य जीव, निर्विघ्नरूप से मोक्ष को चले जाते हैं।

काव्य पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र! आपने उस काल में मोहरूपी चोर से रहित उत्तम मार्ग को प्रकाशित किया, इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक भव्य जीव इस काल में भी निर्विघ्नरूप से उस मार्ग द्वारा मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

हे भगवान! आपने तो ज्ञानानन्दस्वरूप के आश्रय से निर्मल मोक्षमार्ग प्रकाशित किया है, उसके प्रताप से आज भी सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग निर्विकल्परूप से प्रवर्तमान है और आज भी भव्यजीव उस मार्ग पर चलकर मोक्ष को साध रहे हैं।

प्रभो! मैं अपनी आत्मा में निर्विघ्नरूप से मोक्षमार्ग को साध सका हूँ - ऐसा आचार्यदेव, स्तुति में प्रसिद्ध करते हैं। अहो! चारित्रदशा में निर्विघ्नता है, महा-परमशान्ति है, क्लेशरहित आत्म -स्वभाव है, उस आत्मस्वभाव को साधनेवाले मुनियों को चारित्र -पालन में क्लेश नहीं, अपितु अतीन्द्रिय आनन्द है।

हे नाथ! आपके द्वारा दिग्दर्शित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग तो अत्यन्त शान्त और विघ्नरहित है। हे भगवान! हम आपके मार्ग में चलकर निर्वाण की तरफ ही जा रहे हैं। हमारे मोक्ष के बीच विघ्न करनेवाला जगत में कोई नहीं है। बीच में राग -द्वेषादिभाव तो चोर के समान हैं, लुटेरे के समान हैं परन्तु हे नाथ! हमने आपके मार्ग में यह जान लिया है कि हमारे ज्ञानानन्दस्वरूप में राग नहीं है; इसलिए हमें अब निःशंकता है कि हम आपके मार्ग

में निर्विघ्नरूप से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

देखो, यह स्तुतिकार की निःशंकता! भयरहित ऐसे सर्वज्ञभगवान की स्तुति करते हैं और अनन्त भव की शंका भी रहे – ऐसा कभी नहीं हो सकता है। जिसे अनन्तभव की शंका है, वह भगवान की सच्ची स्तुति नहीं कर सकता है।

हे भगवान! आपने जो मोक्षमार्ग बतलाया है, उसी मार्ग में हम अभी चल रहे हैं और उस मार्ग से हम भी निर्विघ्नरूप से मोक्ष की ओर चले आ रहे हैं।

चिदानन्दस्वभाव के भानसहित अन्तर एकाग्रता, वह निश्चय–भक्ति है, उसे शुभविकल्प उत्पन्न हो, वह व्यवहारभक्ति है। वह कैसी होती है? यह कहते हैं। अनन्त गुणनिधानस्वरूप को लक्ष्य में लेकर यह स्तुति करते हैं।● ●

आश्रय लेना किस काम का?

अहा! भगवान का भक्त, स्वयं भक्त मिटकर भगवान बन जाए, इससे हमें कुछ आश्चर्य नहीं लगता, अतिरेक नहीं लगता, परन्तु यह तो सहज वस्तुस्थिति ही है, इसमें आश्चर्य क्या है? प्रभो! आपका आश्रय लेने के बाद हम आपके समान न हों तो क्या आपसे कम, अर्थात् संसारी रहेंगे? तब तो आपके समान बड़े का आश्रय लेना किस काम का?

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य ३८

उम्मुद्दियम्मि तम्मि हु मोक्खणिहाणे गुणणिहाण तए।
केहिं ण जुणतिणा इव इयरणिहाणाइ भुवणम्मि॥

अर्थात् – हे भगवन! हे गुण–निधान! जिस समय आपने मोक्षरूपी खजाने को खोल दिया था, उस समय ऐसे कौन से भव्य जीव हैं, जिन्होंने सड़े तृण के समान दूसरे राज्य आदि निधानों को नहीं छोड़ दिया ?

भावार्थ – हे जिनेश! हे गुण–निधान! जब तक भव्य जीवों ने मोक्षरूपी खजाने को नहीं समझा था तथा उसके गुणों को नहीं जाना था, तभी तक वे राज्य आदि को उत्तम तथा सुख का करनेवाला समझते थे, किन्तु जिस समय आपने उनको मोक्षरूपी खजाने को खोल कर दिखा दिया, तब उन्होंने राज्य आदि निधानों को सड़े हुए तृण के समान छोड़ दिया अर्थात् वे सब मोक्षरूपी खजाने की प्राप्ति के इच्छुक हो गए।

काव्य पर प्रवचन

हे गुणनिधान! जिस समय आपने मोक्षरूपी खजाना खोल दिया था, उस समय ऐसा कौन भव्य जीव होगा, जिसे सड़े हुए

तिनके की तरह अन्य राज्यादि निधानों को नहीं छोड़ दिया होगा ?

हे नाथ ! हे गुणनिधान ! जिस समय आपने मोक्ष का खजाना खोल दिया, उस समय ऐसा कौन भव्य जीव है कि ऐसे स्वभाव की दृष्टि करके आपके समान परमनिधान को प्राप्त न करे ?

देखो, पद्मनन्दि आचार्य भावलिङ्गी दिगम्बर सन्त थे। वे बारम्बार सातवें गुणस्थान में मग्न होकर निर्विकल्प आनन्द में झूलते थे। वहाँ छठवें गुणस्थान में आने पर शुभविकल्प द्वारा भगवान की स्तुति लिख गयी है। वे कहते हैं कि हे नाथ ! आपने मोक्ष खजाना खोल दिया तो ऐसा कौन होगा, जो आत्मस्वरूप की दृष्टिपूर्वक समस्त राज्य-सम्पदा को सड़े हुए तिनके के समान छोड़कर, मुनिदशा प्रगट करके, आत्मानुभव द्वारा मोक्ष के खजाने के लिए आपके द्वारा कथित मार्ग का सेवन न करे ? अर्थात् जिसको इसकी रुचि हो गयी है, वह मुमुक्षु हो गया है। ● ●

यह है जैन भक्ति का फल!

जैनधर्म में ही यह एक विशेष विशिष्टता है कि उसमें सर्वज्ञस्वामी का सेवक, सदा सेवक ही नहीं रहता, अपितु वह स्वयं केवलज्ञानादि वैभव प्रगट करके सर्वज्ञ परमात्मा बन जाता है। परमात्मा की उपासना करनेवाले का लक्ष्य स्वयं परमात्मा बनने का है, इसलिए स्वयं में परमात्मस्वभाव है; उसकी प्रतीति करके, उसकी अन्तरङ्ग उपासना से परमात्मपद को साध लेता है, भक्त स्वयं भगवान बन जाता है... यह है जैन भक्ति का फल!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य ३९

मोहमहाफणिडक्को जणो विरायं तुमं पमुत्तूण।
इयराणाए कह पहु विचेयणो चेयणं लहइ॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेश! जो पुरुष मोहरूपी प्रबल सर्प से काटा गया है, अर्थात् जो अत्यन्त मोही है, वह मनुष्य समस्त प्रकार के राग से रहित वीतराग को छोड़कर, आपसे भिन्न कुदेवों की आज्ञा से कैसे चेतना को प्राप्त कर सकता है? अर्थात् वह कैसे ज्ञानी बन सकता है?

भावार्थ – जो जीव, 'यह पुत्र मेरा है, यह स्त्री मेरी है तथा यह सम्पत्ति मेरी है' – इस प्रकार अनादि काल से मोह से ग्रस्त हो रहा है, अर्थात् जिसको अंशमात्र भी हिताहित का ज्ञान नहीं है; हे प्रभो! उस मनुष्य को कभी भी आपसे भिन्न कुदेवादि की आज्ञा से चेतना की प्राप्ति नहीं हो सकती है, अर्थात् वह मनुष्य, कुदेवादि के मार्ग में गमन करने से कदापि ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता।

काव्य पर प्रवचन

हे प्रभु! जिस पुरुष को मोहरूपी प्रबल सर्प ने डँस लिया है अर्थात् जो अत्यन्त मोही है, वह मनुष्य समस्त प्रकार के संग से

रहित निसंग ऐसे आपको छोड़कर, आपसे भिन्न जो कुदेव हैं, उनकी आज्ञा से चेतना को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? अर्थात् वह किसी प्रकार भी ज्ञानी नहीं हो सकता है।

पुण्य-पाप की रुचिवाले अज्ञानी कुगुरु, मिथ्यात्वरूपी सर्प के समान हैं। हे प्रभु! जिसने आपको छोड़कर कुदेवादि का सेवन किया, वह चेतनस्वरूप में जागृतपना-जानपना कैसे कर सकता है? कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारहित ज्ञानचेतना तो अन्तर के स्वसन्मुखता से प्रगट होती है - ऐसा आपकी दिव्यध्वनि में आता है। सर्वज्ञ का निमित्त छोड़कर कुदेव-कुगुरु की आज्ञा से ज्ञानचेतना कैसे प्राप्त हो सकती है? हो ही नहीं सकती।

देखो, स्वयं सत्य समझे तो सर्वज्ञ-ज्ञानी इत्यादि को निमित्त कहा जाता है परन्तु निमित्त से पर में कुछ होता नहीं है। ● ●

सम्यक् भक्ति का स्वरूप

वस्तुतः बात तो यह है कि इस जीव ने न कभी सच्ची भक्ति ही की है और न भक्ति के स्वरूप का श्रवण ही किया है।

यहाँ भगवान की मात्र रागरूप भक्ति की बात नहीं है, अपितु जिसके व्यवहारभक्ति के पीछे परिणमनरूप से निश्चयभक्ति विद्यमान है, उसकी भक्ति ही सम्यक् भक्ति कही जाती है।

हे भगवान! आपके भक्त को भवभ्रमण की भीड़ रहे — ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यही कारण है कि मुनिवर पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार परमागम में कहा है कि 'यदि तुझे भगवान जिनेन्द्र के प्रति भक्ति नहीं है, तब तो तू भवसागर के मध्य में मगर के मुख में स्थित है।'

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन

काव्य ४०

भवसायरम्मि धम्मो धरइ पडंतं जणं तुहच्चेव।
सवरस्सव परमारणकारणमियराण जिणणाह॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेश! आपका धर्म ही संसाररूपी समुद्र में गिरते हुए जीवों को धारण करता है; किन्तु हे जिनेन्द्र! आपसे भिन्न जितने धर्म हैं, वे भील के धनुष के समान दूसरों को मारने में ही कारण हैं।

भावार्थ – जिस प्रकार भील का धनुष, जीवों को मारनेवाला ही है, रक्षा करनेवाला नहीं; उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! यद्यपि संसार में बहुत से धर्म मौजूद हैं, परन्तु वे सर्व धर्म, प्राणियों को दु:खों के ही कारण हैं, अर्थात् जो प्राणी उन धर्मों को धारण करता है, उसको अनेक गतियों में भ्रमण ही करना पड़ता है तथा उन गतियों में नाना प्रकार के दु:खों को उठाना पड़ता है क्योंकि उन धर्मों में जीवों को हितकारी वस्तु का वास्तविक स्वरूप नहीं बतलाया गया है, किन्तु हे प्रभो! आपके धर्म में वस्तु का यथार्थ स्वरूप भलीभाँति बतलाया गया है, अर्थात् वास्तविक मोक्षमार्ग आदि को विस्तृत रीति से समझाया गया है। इसलिए जो प्राणी आपके धर्म के धारण करनेवाले

हैं, वे शीघ्र ही इस भयंकर संसाररूपी समुद्र को तिर जाते हैं; इसलिए आपका धर्म ही उत्तम धर्म है।

काव्य पर प्रवचन

हे जिनेश! संसाररूपी समुद्र में गिरते हुए जीवों को आप का धर्म ही धारण कर रखता है परन्तु जितने आपसे विरुद्ध अभिप्राय हैं, वे सभी भील के धनुष की तरह अन्य को मारने में ही कारण हैं।

यहाँ सर्वज्ञ के अभिप्राय में और अन्य लोगों के अभिप्राय में अन्तर दिखलाते हैं। 'धारयतिती धर्म' अर्थात् जो धारण किया जाता है वह धर्म है। धर्म, धर्मी के बिना नहीं होता है। चिदानन्द ज्ञायकस्वभाव के आश्रय के बिना स्व धर्म का धारण नहीं होता है। स्वभाव में शुभाशुभ समस्त विभावभाव का अत्यन्त अभाव है और धर्म, स्वभाव-आश्रित है। इस प्रकार एक तरह से तो एक ही धर्म सत्यार्थ है - ऐसा कहा है।

हे भगवान! अन्य दूसरे कल्पित धर्म तो भील के धनुष के समान दूसरे को मारने में ही कारण है। भगवान के द्वारा कथित देव-गुरु-शास्त्र, सात तत्त्व, पञ्च महाव्रतादि का स्वरूप जैसा है, वैसा माने बिना, इस जीव में नववें ग्रैवेयक के योग्य शुभभाव करने की भी सामर्थ्य नहीं होती। जिसे गृहीतमिथ्यात्व है - ऐसे जीव को कुदेवादि की रुचि होने से वह बारहवें स्वर्ग से ऊपर जा सके - ऐसे शुभभाव की योग्यता नहीं हो सकती। वीतरागी देव और उनके द्वारा कथित तत्त्वार्थ की व्यवहारश्रद्धा जिसे होती है, उसे उत्कृष्ट शुभभाव होते हैं परन्तु स्वसन्मुख होकर वीतरागी दृष्टि न करे तो उसे व्यवहार भी नहीं कहा जाता है। ● ●

काव्य ४१

अण्णो को तुह पुरओ वग्गइ गुरुयत्तणं पयासंसो।
जम्मि तइ परमियत्तं केशणहाणं पि जिण जायं॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! जब आपके केश तथा नख भी परिमित हैं, अर्थात् बढ़ते नहीं; तब ऐसा कौन है जो आपके सामने अपनी गुरुता को प्रकाशित करता हुआ बोलने की सामर्थ्य रखता हो?

भावार्थ – जब अचेतन नख तथा केश भी आपके प्रताप से सदा परिमित ही रहते हैं, अर्थात् कभी बढ़ते नहीं हैं; तब जो आपके प्रताप को जानता है, वह कैसे आपके सामने अपनी महिमा को प्रगट कर सकता है? तथा आपके सामने अधिक बोल सकता है?

काव्य पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र! जब आपके केश और नख परिमित हैं अर्थात् बढ़ते-घटते नहीं हैं तो फिर ऐसा कौन है कि जो आपके समक्ष अपना बड़प्पन प्रकाशित करता हुआ बोलने की सामर्थ्य रखता है?

श्वेताम्बर मत में ऐसा कहते हैं कि समवसरण में गोशाला ने

तेजोलेश्या से दो साधुओं को जला दिया और भगवान महावीर की निन्दा करके उनकी ऊपर भी तेजोलेश्या छोड़ दी.... किन्तु यह बात एकदम मिथ्या है, क्योंकि पुण्यवन्त राजा की सभा में भी ऐसा कार्य कोई नहीं कर सकता तो त्रिलोकनाथ की सभा में ऐसा कैसे हो सकता है ? देखो ! इसमें भी चैतन्यस्वभाव की ही महिमा है। हे प्रभु ! आप उत्कृष्ट स्वभाव प्रगट करके वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा हुए हो; मैं आपके समीप (अपनी) अति हीनता जानकर आपकी स्तुति करता हूँ। ●●

'मेरे भगवान इतने सुन्दर...!'

अहा! आपकी मुद्रा की शान्ति, वीतरागता, गम्भीरता – ये सब अनुपम हैं... अद्भुत है। 'मेरे भगवान इतने सुन्दर...!' ऐसे भगवान का वर्णन करते भक्तजन थकते नहीं हैं। संसार में माता अपने पुत्र की प्रशंसा कर-करके राग का पोषण करती है, यहाँ धर्म में वीतरागदेव की प्रशंसा कर-करके भक्तजन अपनी वीतरागी भावना को बढ़ाते हैं। अहो प्रभो! आपके निष्कलङ्क रूप को देखकर, ध्यान करने से हमारे आत्मा में से भी कलङ्क दूर हो जाता है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य ४२

सोहइ सरीरं तुह पहु तिहुयणजणणयणबिंबबिच्छुरियं।
पडिसमयमच्चियं चारुतरलनीलुप्पलेहिंव॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! तीनों लोक के जीवों के जो नेत्र, उनका जो प्रतिबिम्ब, उनसे चित्र-विचित्र आपका शरीर ऐसा मालूम पड़ता है; मानो सुन्दर तथा चंचल नीलकमलों से प्रति समय पूजित ही है।

भावार्थ – हे जिनेन्द्र! आपका शरीर अत्यन्त स्वच्छ सोने के रंग का है। जीवों के नेत्रों की उपमा नीलकमलों से दी गई है। इसलिए जिस समय जीव आपके दर्शन करते हैं, उस समय उनके नेत्रों के प्रतिबिम्ब आपके शरीर में पड़ते हैं। उन नेत्रों के प्रतिबिम्ब को अनुभव कर, ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो! वे नेत्रों के प्रतिबिम्ब नहीं हैं, किन्तु प्रति समय समस्त जीव आपकी नीलकमलों से पूजा करते हैं; इसलिए वे नीलकमल हैं।

काव्य पर प्रवचन

हे प्रभु! तीन लोक के जीवों का जो नेत्र है, उसमें जो प्रतिबिम्ब है, उससे चित्र-विचित्र आपका शरीर ऐसा ज्ञात होता है कि सुन्दर

और चंचल नीलकमलों से मानों कि प्रति समय वह पूजित ही है या क्या ?

हे प्रभु ! आपके केवलज्ञान का तो क्या कहना ! परन्तु आपका परमौदारिकशरीर भी अति सुन्दर है। तीन लोक के जीवों के नेत्र जिसमें प्रतिबिम्ब आपके स्फटिक समान शरीर पर पड़ते हैं, इससे मैं तो मानता हूँ कि सुन्दर और चंचल नीलकमलों से प्रति समय आप पूजित ही हो। बड़े पूजें, उसमें सर्व जीव आपको ही पूजते हैं – ऐसा मैं देखता हूँ।

मैं निरन्तर चिदानन्द परिपूर्ण स्वभाव का ही आदर करता हूँ, प्रति समय मुझे स्वलक्ष्य से शुद्धि ही होती है। स्वभाव की दृष्टि पूर्ण स्वभाव में ही रमती है, निरन्तर हमारे तो यही काम है और पूर्ण पद की भावना है परन्तु अपूर्ण भूमिका होने से शुभभाव आता है, और आपके सन्मुख लक्ष्य जाता है। जो पूर्ण होता है, उसे भक्ति का राग नहीं होता और मिथ्यादृष्टि को भी वैसा राग नहीं होता है।

धर्मी जीव को ही सच्ची समझपूर्वक यथार्थ भक्ति का भाव होता है। ● ●

काव्य ४३

अहमहमिआये णिवडंति णाह छुहियालिणोव्व हरिचक्खू।
तुज्झच्चिय णहपहसरमज्झट्ठियचलणकमलेसु॥

अर्थात् – हे जिनेश! हे प्रभो! आपके पूजित जो नख, उनकी जो प्रभा (कान्ति), वही हुआ सरोवर, उसके मध्य में स्थित जो चरण–कमल, उनमें भूखे भ्रमरों के समान इन्द्रों के नेत्र अहम–अहम् (मैं–मैं) इस रीति से गिरते हैं।

भावार्थ – जिस प्रकार कमलों में सुगन्ध के लोलुपी भ्रमर बारम्बार आकर गिरते हैं; उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! जिस समय इन्द्र आकर आपके चरण–कमलों को नमस्कार करते हैं, उस समय आपके चरण–कमलों में भी उन इन्द्रों के नेत्ररूपी भ्रमर पड़ते हैं और वे नेत्र काले–काले भ्रमरों के समान मालूम पड़ते हैं।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! आपके आत्मा की स्वभावपर्याय की तो क्या बात? परन्तु आपके शरीर के नख की रचना भी अलग ही प्रकार की होती है। आपके केवलज्ञान की तो दिव्यप्रभा है ही और आपके चरण के नख भी ऐसी दिव्यप्रभावाले हैं कि स्वच्छ सरोवर

की तरह सुशोभित होते हैं और तारा व सरोवर के मध्य में स्थित आपके चरणकमल में इन्द्रों के नेत्ररूपी भ्रमर अहं... अहं... करते हुए गिरते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान के चरण में इन्द्र आदि सम्यक्त्वी ही यथार्थ वन्दन करते हैं।

भगवान के चरण में इन्द्र नमस्कार करते हैं, तब इन्द्र की आँख का प्रतिबिम्ब भगवान के चरण के नख में प्रतिबिम्बित होता है, उसमें अलंकार करके यहाँ आचार्यदेव ने स्तुति की है।

इन्द्र को अन्दर में तो परमार्थ पद की लोलुपता है और हे नाथ! बाहर में भक्ति के कारण आपके चरणकमल में भ्रमर की तरह लोलुप हुआ है। देखो तो सही! भगवान के नख की भी ऐसी शोभा!! ऐसे भगवान को शरीर में रोगादि नहीं हो सकते हैं।● ●

तीर्थङ्कर प्रभु की मुद्रा का तेज....

हे देव! आपके अतीन्द्रिय ज्ञानतेज के सामने इन्द्रियज्ञान तो एकदम फीका पड़ गया है। जहाँ अतीन्द्रियज्ञान विकसित हो गया, वहाँ इन्द्रियों का क्या काम है? स्वानुभूति में साधक का ज्ञान भी इन्द्रियों से पार रहकर काम करता है। तीर्थङ्कर प्रभु की मुद्रा का तेज भी ऐसा अद्भुत होता है कि सूर्य-चन्द्रमा का तेज भी उसके सामने आच्छादित हो जाता है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य ४४

कणयकमलाणमुवरिं सेवा तुह विबुहकप्पियाण तुहं।
अहियसिरीणं तत्तो जुत्तं चरणाण संचरणं॥

अर्थात् – हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आपके चरण अत्यन्त उत्तम शोभा से संयुक्त हैं; इसलिए भक्तिवश देवों द्वारा रचित सुवर्ण-कमल के ऊपर उनका गमन करना युक्त ही है।

भावार्थ – जिस समय भगवान, ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों को नष्ट कर देते हैं, उस समय उनको केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान की प्राप्ति होने के पश्चात् वे उपदेश देने को निकलते हैं, उस समय यद्यपि वे आकाश में अधर चलते हैं तो भी देव, भक्ति के वश होकर उनके चलने के लिए सुवर्ण-कमलों से निर्मित मार्ग की रचना करते हैं। उसी आकाश को मन में रखकर ग्रन्थकार भगवान की स्तुति करते हैं कि हे भगवन्! आपने जो देव रचित सुवर्ण-कमलों पर गमन किया था, वह सर्वथा युक्त ही था क्योंकि जैसे सुवर्ण-कमल एक उत्तम पदार्थ है, उसी प्रकार आपके चरण भी अति उत्तम शोभा से संयुक्त हैं।

काव्य पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र! आपके चरण अत्यन्त उत्तम शोभा से युक्त हैं; इसलिए भक्तिवन्त देवों के द्वारा रचित स्वर्णकमल पर उनका गमन करना योग्य ही है।

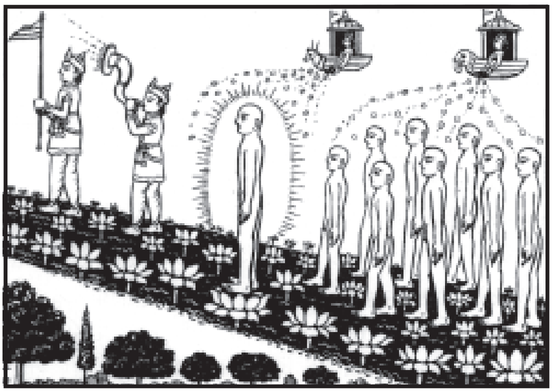

हे भगवान! आपके चरण उत्तम शोभा से सहित हैं; इसलिए भक्तिवश देवों द्वारा रचित स्वर्णकमल पर आपका गमन अयुक्त नहीं है। चार घातिकर्मों का नाश होने पर आप जमीन से पाँच हजार धनुष (दो हजार हाथ) ऊँचे रहते हो और आठ कर्मों का क्षय होने पर सिद्धदशा प्राप्त करके लोक के अन्त में रहोगे।

केवलज्ञान होने पर आप बीस हजार हाथ ऊँचे विराजमान हैं तो भी ऊपर आकाश में स्वर्ण कमल की रचना करके देव आपकी भक्ति करते हैं। ऐसे तीर्थंकर को रोग होवे या वे जमीन पर चलें – ऐसा नहीं होता है।● ●

काव्य ४५

सइहरिकयकण्णसुहो गिज्जइ अमरेहि तुह जसो सग्गे।
मण्णे तं सोउमणो हरिणो हरिणंकसल्लीणो॥

अर्थात् – हे भगवन्! हे जिनेन्द्र! जिसके सुनने से इन्द्र तथा इन्द्राणी के कानों को सुख होता है – ऐसे आपके यश को सदा स्वर्गों में देवता लोग गाया करते हैं; इसलिए ऐसा मालूम होता है कि उसी को सुनने के लिए मृग चन्द्रमा में जाकर लीन हो गया है।

भावार्थ – संसार में यह किंवदन्ती भलीभाँति प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा में हिरण (मृग) का चिह्न है, इसीलिए उसका नाम मृगांक है, अतः आचार्यवर उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस भूमण्डल को छोड़कर जो चन्द्रमा में जाकर हिरण ने स्थिति की है, उसका यही कारण है कि वह स्वर्ग में गाना सुनने के लिए गया है क्योंकि हे जिनेन्द्र! इन्द्र तथा इन्द्राणी के कानों को सुख के करनेवाले आपके यश को स्वर्ग में सदा देव गान किया करते हैं और हिरण गाने का अत्यन्त प्रिय है – यह प्रत्यक्ष गोचर है।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! जिसके सुनने से इन्द्र और इन्द्राणी के कानों को सुख होता है – ऐसे आपके यश को देव सदा स्वर्ग में गाते हैं। इसलिए उन्हें सुनने के लिए हिरण, चन्द्रमा में जाकर लीन हो गया है – ऐसा ज्ञात होता है।

देखो, चन्द्रमा में जो हिरण (जैसा आकार) दिखता है, उसमें अलंकार करके आचार्यदेव स्तुति करते हैं कि हे जिनेन्द्र! सौधर्म स्वर्ग में इन्द्र–इन्द्राणी आपकी अद्‌भुत भक्ति करके गीत गाते हैं। उन्हें सुनने के लिए हिरण वहाँ जाकर आपके गीत सुनता है। हे नाथ! यहाँ का हिरण आपके गीत सुनने के लिए ऊपर चन्द्रलोक में गया तो यहाँ हम आपके गीत गायें और उन्हें सुनने के लिए आपके भक्त न आवें – ऐसा नहीं हो सकता है।

हे नाथ! हिरण भी आपके गीत सुनता है तो मनुष्य होकर भी जो आपका गीत नहीं सुनता, वह तो अभागा है। हे नाथ! देवलोक में इन्द्र–इन्द्राणी करताल और वीणा लेकर आपके गीत गाते हैं। उन्हें स्वयं को भगवान की भक्ति का रंग लगा है, वहाँ हिरण को भी भक्ति का रंग लगा दिया है।

हे नाथ! सर्वज्ञ परमात्मदशा का गीत कौन नहीं सुनेगा? हिरण भी आपके गीत सुनने के लिए सौधर्म इन्द्र के समीप चन्द्रलोक में गया। हे नाथ! आनन्दकन्द आत्मा में झूलानेवाले आपकी दिव्यवाणी हमें अत्यन्त प्रिय है। यहाँ का हिरण तो जरा–जरा–सी बात में डरता था परन्तु हे नाथ! आपके गीत सुनने का रंग लगा, इसलिए वह उछलकर ठेठ चन्द्रलोक में पहुँच गया। ● ●

काव्य ४६

अलियं कमले कमला कमकमले तुह जिणिंद सा वसइ।
णहकिरणणिहेण घडंति णयजणे से कडक्खछडा॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेश! लक्ष्मी कमल में रहती है – यह बात सर्वथा असत्य है, क्योंकि वह लक्ष्मी आपके चरण–कमलों में रहती है क्योंकि जो भव्य जीव आपको सिर झुका कर नमस्कार करते हैं, उन भव्य जीवों के ऊपर नखों की किरणों के बहाने से उस लक्ष्मी का कटाक्ष–पात प्रतीत होता है।

भावार्थ – ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन्! आपकी जो नखों की किरणें हैं, वे नखों की किरणें नहीं, किन्तु आपके चरणों में विराजमान लक्ष्मी (शोभा) के कटाक्ष–पात हैं, क्योंकि जो पुरुष, भक्तिपूर्वक आपके चरण–कमलों को नमस्कार करते हैं, उनके ऊपर मुग्ध होकर लक्ष्मी कटाक्ष–पात करती है, अर्थात् जो पुरुष आपके चरण–कमलों को सिर झुकाकर नमस्कार करते हैं, उनको लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, वे लक्ष्मीवान बन जाते हैं। इसलिए हे प्रभो! जो यह संसार में किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी कमल में निवास करती है, यह बात सर्वथा असत्य है, किन्तु वह

आपके चरण–कमलों में ही रहती है, अन्यथा भव्य जीव, लक्ष्मीवान कैसे हो सकते हैं ?

काव्य पर प्रवचन

हे प्रभु! लक्ष्मी कमल पर बसती है, यह बात सर्वथा असत्य है क्योंकि वह लक्ष्मी तो आपके चरण–कमल में बसती है क्योंकि जो भव्य जीव आपको सिर नवाकर नमस्कार करता है, उस भव्य जीव पर नख की किरणों के बहाने उस लक्ष्मी का कटाक्ष–पात होता है।

हे भगवान! आपकी केवलज्ञानरूप लक्ष्मी को पहचानकर भव्यजीव आपके नख की किरणों के बहाने लक्ष्मी का आमन्त्रण देखता है। आपकी पूजा के शुभविकल्प से बाह्य लक्ष्मी तो मिलती ही है परन्तु स्वरूप लक्ष्मीवान हो जाता है, अर्थात् विकल्प को गौण करके ज्ञानानन्द के अनुभवरूप निश्चयभक्ति के फल में मुक्ति –लक्ष्मी प्राप्त होती है।

हे भगवान! अन्दर दिव्यज्ञान की शोभा बाहर उछलकर आपके नखों में प्रकाशरूप हुई है। 'चरणकमल कमला वसै जी निर्मल स्थिर पद देख' आपके चरणकमल की लक्ष्मी भव्यों को कटाक्ष करती है कि केवलज्ञान लक्ष्मी की प्राप्ति भगवान के पास है। पुण्य और पवित्रता में उपादेय पवित्रता के गुणगान करके अजोड़ उत्कृष्ट परमात्मपद का ही आदर करते हैं। बीच में पुण्य का ज्ञान कराया, इसलिए कहीं पुण्य की स्तुति नहीं की है। स्तुति में कथन तो व्यवहार से आते हैं परन्तु स्तुतिकार का अन्दर में पुण्य और पवित्रता दोनों के बीच में विवेक वर्तता है। जिसने अन्तर में

चैतन्यस्वभाव का श्रद्धान–ज्ञान किया है, उसने ही वास्तव में सीमन्धर भगवान के चरण–कमल पकड़े हैं और वही सच्चा लक्ष्मीवान है।

हे नाथ! इसके अतिरिक्त दूसरी जड़ की लक्ष्मी जिसके पास हो, हम उसे लक्ष्मीवान नहीं गिनते हैं। ● ●

परमपद लेकर ही रहूँगा

अहा! धर्मी जीव का सर्वज्ञपरमात्मा के प्रति प्रेम तो देखो! प्रभो! इस विकराल काल में अपने साधकभावरूपी बच्चे की रक्षा के लिए मैं सम्पूर्ण शक्ति से आपकी भक्ति करूँगा। अल्पज्ञ साधक होने पर भी मैं सर्वज्ञपद की ओर दौड़ा आ रहा हूँ; उसमें बीच में अन्य कोई विचार करके मैं अटकूँगा नहीं। परमपद प्राप्त करने के लिए मैंने स्थिरता की है। अभी मैं शक्तिरहित होने पर भी, सर्वज्ञपद के मनोरथ का सेवन करता हूँ और उसकी स्तुति आदरसहित करते हुए निरन्तर आपके द्वारा बताये गये मार्ग पर अग्रसर होता हूँ। अब, परमपद लेकर ही रहूँगा।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य ४७

जे कयकुवलयहरिसे तुमम्मि विद्देसिणो स ताणं पि।
दोसो ससिम्मि वा आहयाण जह वाहिआवरणं॥

अर्थात् – चन्द्रमा तो सदा पृथ्वी को (रात्रि–विकासी कमलों को) आनन्द का ही देनेवाला है, किन्तु जो मनुष्य रोगग्रस्त हैं, वे चन्द्रमा से घृणा करते हैं। जिस प्रकार घृणा करने में उनके बाह्य आवरण का (उनके रोग का) ही दोष है, चन्द्रमा का दोष नहीं। उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! आप तो समस्त भूमण्डल को आनन्द करनेवाले हैं। यदि ऐसा होने पर भी कोई मूर्ख आपसे विद्वेष करे तो वह उसी का दोष है, इसमें आपका कोई भी दोष नहीं।

काव्य पर प्रवचन

चन्द्रमा तो हमेशा पृथ्वी में रात्रि विकासी कमलों को आनन्द देता है परन्तु जो मनुष्य रोगग्रस्त है, वह चन्द्रमा के प्रति घृणा करता है; वस्तुतः उस उसकी घृणा में उसके बाह्य आवरण का, अर्थात् रोग का ही दोष है; चन्द्रमा का कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार हे जिनेन्द्र! आप तो समस्त भूमण्डल को आनन्दप्रदाता हैं। आपके होने पर भी कोई मूर्ख आपके प्रति द्वेष करता है तो वह उसी का दोष है; उसमें आपका कुछ भी दोष नहीं है।

आप केवल ज्ञानानन्दमय अनन्त चक्षु सर्वज्ञता से पूर्ण चन्द्र हैं। वस्तुत: आपको जड़ चन्द्र की उपमा लागू नहीं पड़ती। चन्द्रमा तो रात्रि में प्रकाश करता है; रात्रि विकासी कमल को आनन्द देता है परन्तु रोगी को घृणा का कारण होता है, परन्तु उसमें चन्द्रमा का दोष नहीं है, किन्तु हे नाथ! आप तो समस्त लोक को आनन्द करनेवाले हो, तथापि कोई मूर्ख आपके प्रति द्वेष करता है तो वह उसी का दोष है।

भगवान ने केवलज्ञान में जो देखा हो, तद्नुसार सब होता है। यह बात कर्तृत्वभाववाले को जँचती नहीं है, इसलिए वह द्वेष करता है। 'हम तुम्हारा सब कर देते हैं – ऐसा मानो, समाज में हम व्यवस्था रख सकते हैं, लक्ष्मी-मकान इत्यादि की व्यवस्था कर सकते हैं।' – इत्यादि माननेवाले अहंकारी को सर्वज्ञ-ज्ञातामात्र स्वभाव के प्रति द्वेष होता है।

सिद्धभगवान हमारा कुछ भल नहीं करते तो हमें ऐसे भगवान नहीं चाहिए.... महावीर सर्वज्ञ थे या नहीं, इसका कुछ नहीं परन्तु वे विशिष्ट असाधारण विचारक थे... इत्यादि प्रकार से सर्वज्ञपने का निषेध करनेवाला जीव, मूढ़ / अज्ञानी है।

सर्वज्ञ के निर्णय में ही अपूर्व और अनन्त पुरुषार्थ आता है। निमित्त, विकार और अल्पज्ञ पर्याय से दृष्टि छूटकर अखण्ड द्रव्यस्वभाव में दृष्टि होने पर आनन्द आता है। उसी प्रकार हे नाथ! आप तो आनन्द के ही दाता हैं, आपके केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय करनेवाले को आनन्द हुए बिना नहीं रहता है। ● ●

काव्य ४८

को इह हि उव्वरंति जिण जयसंहरणमरणवणसिहिणो।
तुह पयथुइणिज्झरणीवारणमिणमो ण जइ होंति॥

अर्थात् – हे भगवन्! हे प्रभो! आपके चरणों की स्तुतिरूपी नदी से यदि बुझाना नहीं होता तो समस्त जगत का संहार करनेवाली मरणरूपी वन की अग्नि से कैसे उद्धार होता?

भावार्थ – यदि किसी कारण से वन में अग्नि लग जावे और उस अग्नि को बुझानेवाला यदि नदी का जल न होवे तो उस अग्नि से जिस प्रकार कुछ भी चीज नहीं बचती; सब ही भस्म हो जाती है; उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! यदि आपके चरणों की स्तुतिरूपी नदी से बुझाना न होता तो समस्त जगत को नष्ट करनेवाली मरणरूपी वनाग्नि से किसी प्रकार से उद्धार नहीं हो सकता था।

सारार्थ – हे जिनेन्द्र! यदि जीवों को मरने से बचानेवाली है तो आपकी चरणों की स्तुति ही है।

काव्य पर प्रवचन

यहाँ वीतरागी दृष्टि और स्थिरतासहित भावलिङ्गी मुनिराज,

निश्चय स्तुतिपूर्वक जब शुभविकल्प में आते हैं, तब कैसी स्तुति करते हैं ? वह कहा जा रहा है।

हे भगवान ! आपके चरणों की स्तुतिरूपी नदी द्वारा यदि हमें शान्ति न मिले तो समस्त जगत् का संहार करनेवाली जो मरणरूपी वन की आग है, उससे हमारा उद्धार कैसे होगा ?

हे भगवान! आत्मा में अपरिमित ज्ञानादि शक्ति है, उसे माननेवाला भव्य जीव आपके सन्मुख दो हाथ जोड़कर अन्दर में ज्ञानानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर आपकी स्तुति करता है। जो अन्दर में बारम्बार लीनता में सावधान रहता है, वही सर्वज्ञस्वभावी निजगुण की स्तुति करता है, वही आपकी सच्ची स्तुति है, वही संसार नाशक है। ज्ञानी किसी निमित्त या व्यवहार / राग की स्तुति नहीं करते हैं। जैसे, नदी का प्रवाह अग्नि को बुझा देता है, उसी प्रकार मैं स्वभाव से पूर्ण हूँ – ऐसे स्वद्रव्य के अवलम्बन से भान होने पर जो निर्मल पर्याय का प्रवाह निकलता है, वह क्रोधादि समस्त कषायरूप अग्नि को बुझा देता है।

हे नाथ! जो वीतरागी स्वभाव की स्तुति नहीं करता, उसे भवताप से बचने का कोई मार्ग नहीं है। पर की भक्ति तो राग है, वह पुण्य है और जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की, पर आश्रय की रुचि है, परन्तु धर्मी जीव को तो वीतरागी स्वभाव की ही रुचि है और उसी की निरन्तर उन्हें मुख्यता वर्तती है। अन्तर्मुख स्वभाव में सावधान रहकर, सर्वज्ञभगवान की स्तुति करनेवाले को संसार नहीं रहता है, अर्थात् वह शीघ्र मुक्तदशा को प्राप्त हो जाता है। ● ●

काव्य ४९

करजुवलकमलमउले भालत्थे तुह पुरो करा वसइ।
सग्गापवग्गकमला कुणंति तं तेण सप्पुरिसा॥

अर्थात् – हे भगवन्! हे जिनेन्द्र! जिस समय भव्य जीव आपके सामने दोनों हाथरूपी कमलों को मुकुलित कर, अर्थात् जोड़ कर मस्तक पर रखते हैं, उस समय उनको स्वर्ग तथा मोक्ष की लक्ष्मी की प्राप्ति होती है; इसीलिए उत्तम पुरुष, हाथ जोड़ कर मस्तक पर रखते हैं।

भावार्थ – ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन्! जो सज्जन पुरुष, हाथ जोड़कर मस्तक पर रखते हैं, उनका उस प्रकार का कार्य निष्फल नहीं है, किन्तु उनको हाथ जोड़ कर मस्तक पर रखने से स्वर्ग तथा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, अर्थात् हे भगवन्! जो भव्य जीव आपको हाथ जोड़ कर तथा मस्तक नवा कर नमस्कार करते हैं; उनको स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है।

काव्य पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र! जिस समय भव्य जीव आपके सन्मुख दोनों कर

–कमल जोड़कर मस्तक ऊपर रखते हैं, उस समय उन्हें स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त होती है। इस कारण उत्तम पुरुष हाथ जोड़कर मस्तक पर रखते हैं।

जो कोई सत् पुरुष, सद्चिदानन्दस्वरूप में रुचिवान होकर आपके सन्मुख–सर्वज्ञ के सन्मुख; आप क्षेत्र से दूर हो तो भी हमारे ज्ञान से दूर नहीं हो – ऐसे भावपूर्वक, दो हाथरूपी कमल जोड़कर नमस्कार करता है, उसे पुण्य–पाप के भेद को छोड़कर अन्दर ज्ञातामात्र स्वभाव में जितना आनन्दपना वर्तता है, उतनी निश्चय अभेद स्तुति है और जब शुभविकल्प उत्पन्न होता है, उतनी व्यवहारभक्ति है, जिसके कारण स्वर्ग की सम्पत्ति भी प्राप्त होनेवाली है परन्तु हे भगवान! हमें तो आपके समान पूर्ण शुद्धात्मा पद का ही आदर है।

भरत चक्रवर्ती अपने पुत्रों की परीक्षा करते थे, यह बात भरतेश वैभव में आती है। वे अपने पुत्र से पूछते हैं कि आदीश्वर भगवान की भक्ति तथा भेदरत्नत्रय से मुक्ति होती है या नहीं? उत्तर में उनका पुत्र कहता है कि व्यवहाररत्नत्रय तो पराश्रयरूप राग है, वैसी व्यवहारभक्ति से कभी मुक्ति नहीं होती। आप ही पहले कहते थे कि आत्मा से अभेदभक्ति से ही / अभेदरत्नत्रय से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, तो आज आप यह बात कैसे कहते हो? फिर भरत उनकी बात का स्वीकार करते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार अलंकारपूर्वक कथन करते हैं कि हे नाथ! जो भव्य जीव आपको दो हाथ मस्तक पर रखकर नमस्कार करता है, वह वास्तव में तो स्वर्ग और मोक्षरूपी दो उच्च पद लेने के लिए ही हाथ लम्बाता है। ● ●

काव्य ५०

वियलइ मोहणधूली तुह पुरओ मोहठगपरिट्ठविया।
पणवियसीसाउ तओ पणवियसीसा बुहा होंति॥

अर्थात् – हे भगवन्! हे प्रभो! जो भव्य जीव आपको मस्तक झुका कर नमस्कार करते हैं, उनकी मोहरूपी ठग से स्थापित मोहनरूपी धूलि आपके सामने बात की बात में नष्ट हो जाती है; इसीलिए विद्वान पुरुष आपको नमस्कार करते हैं।

भावार्थ – जिन जीवों की आत्मा पर जब तक मोहरूपी भयंकर तथा दुर्जय ठग द्वारा रचित मोहनधूलि विद्यमान रहती है, तब तक उन जीवों को अंशमात्र भी हेयोपादेय का ज्ञान नहीं होता। वे विक्षिप्त के समान – 'यह पुत्र मेरा है, यह स्त्री मेरी है, यह द्रव्य मेरा है' – ऐसे असत्य विकल्पों को सदा किया करते हैं, किन्तु हे प्रभो! जिस समय वे भव्य जीव आपको मस्तक नवाकर विनय से नमस्कार करते हैं, उस समय आपके सामने उस मोहरूपी प्रबल ठग की कुछ भी तीन–पाँच नहीं चलती, अर्थात् वह आपको नमस्कार करनेवाले भव्य जीवों के ऊपर अंशमात्र भी मोहनधूलि

नहीं डाल सकता; इसीलिए उत्तम विद्वान पुरुष आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं।

काव्य पर प्रवचन

हे प्रभु! जो भव्यजीव आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करता है, उसकी मोहरूपी ठग द्वारा डाली हुई मोहनधूल एकदम नष्ट हो जाती है; इसलिए विद्वान पुरुष आपको नमस्कार करते हैं।

हे नाथ! जिनका मस्तक आपके चरण में नम्रीभूत है, उसके मस्तक से मोहरूप धूल नष्ट हो जाती है, अर्थात् उसका मोह नष्ट हो जाता है। किस प्रकार? वह प्रवचनसार गाथा ८० में कहा है कि

जो जानता अरहन्त को, गुण द्रव्य और पर्ययपने।
वह जानता निज आत्म को, तसु मोहक्षय पावे अरे॥

जो जीव, आत्मा को जानता है, उसका मोह नाश को प्राप्त होता है। हे नाथ! आपकी सर्वज्ञता को पहचानते ही राग का और ज्ञान का भेदज्ञान हो जाता है और मोह का अभाव हो जाता है। यहाँ उस व्यवहार भक्ति की बात नहीं है परन्तु अन्तर में भगवान जैसे अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टिसहित की यह भक्ति है। अन्तर में तो अपने ज्ञानानन्द शुद्धस्वभाव में नम्रीभूत हुआ है और भक्ति का विकल्प उत्पन्न होने पर सर्वज्ञ भगवान के चरण में नमस्कार करता है।

देखो, समयसार में भी कहा है कि **नमः समयसाराय:।** समयसार, अर्थात् अपना शुद्ध आत्मा, उसे नमस्कार हो! शुद्ध आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करके उसमें एकाग्र हुआ, उसने समयसार

को (शुद्धात्मा को) नमस्कार किया, यह निश्चयस्तुति है और सर्वज्ञ भगवान के बहुमान का भाव, वह व्यवहारस्तुति है। साधक जीव को ऐसे दोनों स्तुतियाँ एक साथ होती हैं।

साधकजीव कहता है कि हे नाथ! मैंने आपके चरण-कमल में मस्तक झुकाया है और अन्तर में आपके जैसा ही मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसकी प्रतीति करने से अब मेरे समीप मोह का जोर नहीं चलता है। जो आपका आदर करता है, वह रागादि का आदर नहीं करता; इसीलिए उसके मोह का नाश हो जाता है। उसे दर्शनमोह का बन्ध होता ही नहीं।●●

त्रिकाली द्रव्य की दास

जैसे भगवान किसी को वन्दन नहीं करते; वैसे ही निर्मल आत्मस्वभाव भी किसी को वन्दन या किसी का आदर नहीं करता। निर्मल पर्याय तो स्वभाव का वन्दन या आदर करती है, किन्तु निर्मल द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। वह तो दृष्टि का विषय परिपूर्ण तत्त्व है, वह किसी को नमस्कार नहीं करता, किसी का सत्कार नहीं करता।

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, वे त्रिकाली द्रव्य की दास हैं; परन्तु त्रिकाली द्रव्य किसी का दास नहीं है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन

काव्य ५१

बंभप्पमुहा सण्णा सव्वा तुह जे भणंति अण्णस्स।
ससिजोण्णा खज्जोए जडेहि जोडिज्जये तेहिं॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! ब्रह्मा, विष्णु आदि जो संज्ञायें सुनने में आती हैं, वे आपकी ही हैं, अर्थात् आप ही ब्रह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं, तथा बुद्ध आदि भी आप ही हैं। जो मनुष्य ब्रह्मा, विष्णु आदि संज्ञा दूसरों की मानते हैं, वे मूढ़ मनुष्य, चन्द्रमा की चाँदनी का खद्योत (जुगनू) के साथ सम्बन्ध करते हैं – ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ – खद्योत (जुगनू) का प्रकाश बहुत कम होता है और शीतल नहीं होता तथा चन्द्रमा का प्रकाश अधिक और शान्ति का देनेवाला होता है – यह बात भलीभाँति प्रतीति–सिद्ध है। ऐसा होने पर भी, जो मनुष्य, चन्द्रमा की अधिक तथा शीतल चाँदनी को यदि खद्योत की चाँदनी कहे तो जिस प्रकार वह मूर्ख समझा जाता है; उसी प्रकार हे प्रभो! वास्तविक रीति से तो ब्रह्मा आदि संज्ञा आपकी ही है, किन्तु जो मनुष्य चतुर्मुख व्यक्ति को ब्रह्मा कहता है तथा गोपिकाओं के साथ रमण करनेवाले को पुरुषोत्तम

(विष्णु) कहता है और पार्वती नाम की स्त्री के पति को महादेव कहता है, वह मनुष्य अज्ञ है क्योंकि ब्रह्मा आदि जो संज्ञायें हैं, वे सार्थक हैं तथा उनका अर्थ चतुर्मुख आदि व्यक्तियों में घट नहीं सकता। इसलिए वे ब्रह्मा आदि नहीं हो सकते।

काव्य पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र! ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि जो नाम सुनने में आते हैं, वे सब आपके ही नाम हैं, अर्थात् आप ही ब्रह्मा, विष्णु तथा बुद्ध आदि हैं।

हे नाथ! आपका अनादि ब्रह्मस्वभाव है। स्वभाव से तो आप अनादि हैं और परमात्मदशा तो नयी प्रगट हुई है, इस अपेक्षा से आपकी आदि है। इसी प्रकार हे नाथ! मैं भी स्वभाव से तो आपकी तरह अनादि हूँ और साधकदशा की जहाँ शुरुआत हुई है, इस अपेक्षा से वह मेरी 'आदि' है; इस प्रकार आत्मा ही अनादि और आदि है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई अनादि ब्रह्म नहीं है। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई अनादि ब्रह्म नहीं है। आपके अतिरिक्त दूसरे को जो ब्रह्म इत्यादि मानता है, वह मूढ़ है। कैसा मूढ़? कि जुगनू को चन्द्रमा मानने जैसा मूढ़ है। उसी प्रकार हे नाथ! ज्ञानी सन्त तो आत्मा के भानपूर्वक आपको पहचानकर आपकी भक्ति करते हैं, (किन्तु) अज्ञानी लोग अकेले राग से आपकी स्तुति करते हैं और राग को ही धर्म मानते हैं, वे भी मूर्ख हैं।

हे नाथ! कहाँ तो आपकी सर्वज्ञता! और कहाँ अन्य देव! आपके साथ में जो अन्य देव की तुलना करता है, वह मूढ़ है। हे भगवान! समवसरण में जब आप विराजमान थे, तब आप ही

चतुर्मुख दिखलाई देते थे; इस कारण आप चतुर्मुख ब्रह्म हो; इसके अतिरिक्त अन्य कोई चतुर्मुख जगत् में नहीं है।

आदिनाथस्तोत्र, अर्थात् भक्तामरस्तोत्र में आचार्य मानतुंग ने कहा है कि अन्दर के जेल को भी तोड़कर मैं अबन्धस्वभावी आत्मा जागृत हुआ तो बाह्य में ताले की जेल का प्रसंग कैसे रहेगा? अरे! जैनधर्म की अवहेलना कैसे होगी! ऐसी प्रभावना इत्यादि का भाव हुआ और भगवान की भक्ति करने लगे। भक्तामर प्रणत.... देखो, ताले टूटे उसका महत्त्व नहीं है, वह तो जड़ की क्रिया है और अन्दर के अकेले शुभभाव का भी महत्त्व नहीं है परन्तु अन्तर में चिदानन्दस्वभाव की आराधनारूप साधकदशा प्रगट हुई है, वहाँ ऐसी भक्ति का भाव आता है। इस कारण अन्तर की निश्चयस्तुति का आरोप करके शुभभाव को व्यवहारस्तुति कहा गया है। अज्ञानी को ऐसी भक्ति नहीं होती और जो राग तोड़कर निर्विकल्पदशा में लीन हुए हैं, उन्हें भी ऐसा राग नहीं होता। यह धर्मात्मा भक्ति करता है, उसकी बात है।

भक्तामरस्तोत्र में भी आदिनाथ प्रभु की स्तुति है और वह स्तुति करनेवाले भी भावलिङ्गी सन्त-मुनि थे। वे कहते हैं कि हे नाथ! आपको चिदानन्दस्वभाव विकसित हो गया है, आप केवलज्ञान के पिण्ड हो गये हैं; इसलिए आप ही बुद्ध हैं। आपके अतिरिक्त अन्य कोई वास्तव में कोई बुद्ध नहीं है। हे भगवान! आप नाभिराय के चिरंजीवी पुत्र हो और आपके श्रीमुख से चार वेद/अनुयोग निकले हैं। हे नाथ! मैंने आपको देखा तो जगत् का सर्वोत्कृष्ट मङ्गल मैंने देखा। आप ही जगत् में सर्वोत्कृष्ट पुरुष हैं।

भक्तामरस्तोत्र के पच्चीसवें काव्य में कहते हैं कि हे भगवान! आप लोकालोक को जानते हैं, इसलिए विभु हैं। आपका ज्ञान समस्त ज्ञेयों को जाननेवाला होने से आप ही सर्व व्यापक विभु हैं। आपकी विभूता परिपूर्ण विकसित हो गयी है। आपका ज्ञान, पर में प्रवेश नहीं करता परन्तु अचिन्त्य ज्ञानसामर्थ्य आपको प्रगट हो गयी है; इसलिए आपके ज्ञान में सब ज्ञात होता है। ऐसी सर्वज्ञता प्रगट हुई, वही आत्मा की विभूता है। हे भगवान! स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के बिना आपके केवलज्ञान की महिमा का पार नहीं पाया जा सकता; इसलिए आप अचिन्त्य हैं।

हे भगवान! इस चौबीसी में आप आदि तीर्थङ्कर हो परन्तु स्वभाव से आप अनन्त हो। हे नाथ! दशा से तो आप अनादि हो और परमात्मदशारूप से आपकी आदि है – ऐसा कहकर स्तुतिकार अपने आत्मा में भी विवेक करता है – मेरा स्वभाव तो अनादि है, पर्याय में साधकदशा की नयी शुरुआत है। स्वभाव का अवलम्बन लेकर केवलज्ञान की सृष्टि की रचना की है; इसलिए हे नाथ! आप ही ब्रह्मा हो।

हे भगवान! आपने स्वभाव का रक्षण किया, इसलिए आप ही विष्णु हैं और आपने संसार का नाश किया, इसलिए आप ही शंकर हैं। परमात्मदशारूपी अनन्त ऐश्वर्य आपको प्रगट हुआ है, इसलिए आप ही ईश्वर हैं। हे नाथ! आप ही कामदेवरूपी राहू को भस्म करनेवाले हो। आपने चैतन्य के योग को साधकर केवलज्ञान प्रगट किया है; इसलिए आप ही योगीश्वर हो। लोक में असंख्य समकिती तथा श्रावक विराजमान हैं तथा लाखों मुनिराज विराजमान हैं, वे

सब योगी हैं; उन सबके आप नाथ हो, इसलिए आप योगियों के भी ईश्वर हो। हे नाथ! आप तो प्रसिद्ध ध्यानी हो। अन्यवादी कोई कल्पित नामधारी योगी, वह योगी नहीं है। आप केवलज्ञानस्वरूप निर्मल हो; इस प्रकार उत्तम पुरुष जो गणधरदेव हैं, उन भावलिङ्गी सन्तों के नायक कहते हैं। ● ●

जन्म-मरण का चक्कर नहीं रहता।

अहा! जो अन्तर्मुख होकर आपके सम्यक स्वरूप का अनुभव करता है, उसे जन्म-मरण का चक्कर नहीं रहता। आपके स्वरूप की सच्ची पहचान करे तो राग से भिन्न उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा अनुभव में आता है और सम्यग्दर्शन होता है; फिर उसी स्वरूप में एकाग्र होकर राग-द्वेष दूर करके शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है; जिससे परमात्मदशा प्रगट होती है। अब, उसके भव नहीं रहते, मृत्यु नहीं रहती; इसलिए वह मृत्युञ्जय हुआ। इस प्रकार हे नाथ! आप स्वयं तो मृत्युञ्जय हो और आपकी सम्यक् उपलब्धि करनेवाले जीव भी मृत्युञ्जय हो जाते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य ५२

तं चेव मोक्खपयवी तं चिय सरणं जणस्स सव्वस्स।
तं णिक्कारणविद्दो जाइजरामरणवाहिहरो॥

अर्थात् – हे भगवन्! हे जिनेश! आप ही तो मोक्ष के मार्ग हैं। समस्त प्राणियों के आप ही शरण हैं और समस्त जन्म, मरण आदि रोगों के नाश करनेवाले आप ही बिना कारण के वैद्य हैं॥ ५२॥

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! आप ही मोक्षमार्ग हो, आप ही समस्त प्राणियों के लिए शरणरूप हो और समस्त जन्म, जरा, मरणरूप रोगों के नाश करनेवाले आप ही निष्कारण वैद्य हैं।

हे जिनेश! आप स्वयं ही मोक्षमार्ग हैं। आप ही समस्त प्राणियों के लिये शरणरूप हैं, मङ्गलरूप हैं तथा कल्याणरूप हैं। जिन्होंने सम्यग्दर्शन द्वारा निज शुद्धात्मा का अनुभव किया है, वे अपने आत्मा को निश्चय से मङ्गल, उत्तम और शरणरूप देखते हैं; व्यवहार से आप ही उत्तम हो और निष्कारण वैद्य हो। आप भाव आरोग्य के दातार हो, पूर्ण शुद्धस्वरूप – ऐसे आपका आदर करनेवाला जीव, संसार भाव का आदर स्वप्न में भी नहीं करता है। ● ●

काव्य ५३

किच्छाहि समुवलद्धे कयकिच्चा जम्मि जोइणो होंति।
तं परमकारणं जिण ण तुमाहिंतो परो अत्थि॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! बड़े कष्टों से आपको प्राप्त होकर योगी लोग कृतकृत्य हो जाते हैं, अर्थात् संसार में उनको दूसरा कोई भी काम बाकी नहीं रहता; इसलिए आपसे भिन्न कोई भी परम पद (मोक्ष पद) का कारण नहीं है॥ ५३॥

भावार्थ – यद्यपि संसार में बहुत से देव हैं तथा वे अपने को परम पद का कारण भी कहते हैं, किन्तु हे जिनेन्द्र! उनमें अनेक दूषण मौजूद हैं; इसलिए वे परम पद के कारण नहीं हो सकते। यदि परम पद के कारण हो तो आप ही हो क्योंकि योगी, तप आदि को करके आपके स्वरूप को प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

काव्य पर प्रवचन

हे जिनेश! अत्यन्त कष्ट द्वारा अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा आपको प्राप्त करके योगी कृतकृत्य हो जाते हैं, अर्थात् उन्हें संसार में कुछ काम करना बाकी नहीं रहता। इस कारण आपसे भिन्न अन्य कोई भी परम पद, अर्थात् मोक्षपद का कारण नहीं है।

हे प्रभु! लौकिक पुरुषार्थ से अलग प्रकार का, ज्ञानानन्द में श्रद्धा, ज्ञान लीनतारूप अतीन्द्रिय पुरुषार्थ आपने ही बतलाया है। वही उत्तम पुरुषार्थ है और उसके द्वारा आप कृतकृत्य हुए हो। वर्तमान में कोई मुनि नाम धराकर कहता है कि समकित, पुरुषार्थ से नहीं होता; बाह्य व्रतादि पुरुषार्थ से होते हैं। वे अपनी मानी हुई बात आगम के अनुसार सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु ऐसा नहीं है।

आशय यह है कि संसार में बहुत मिथ्या नामधारी देव, गुरु बनकर अपने को परमपद का कारण बतलाते हैं परन्तु सर्वज्ञ द्वारा कथित मार्ग से विपरीत बात करते हैं; इसलिए वे परमपद के कारण नहीं हैं। परमपद का कारण तो आप ही हो, क्योंकि योगी आपका यथार्थस्वरूप जानकर, अन्तर में ज्ञाता-दृष्टास्वभाव का आश्रय करते हैं और वे आपके मार्ग को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं।

हे नाथ! हम पंचम काल के भावलिङ्गी मुनि होने पर भी, भविष्य में अल्प काल में केवलज्ञानी भगवान अर्थात् आपके समान कृतकृत्य हो जानेवाले हैं - यह कोल-करार है, इसमें किञ्चित् भी बदलाव नहीं होगा।

हे नाथ! हम तो आपके बालक हैं। प्रभु आप बाल वैद्य हैं। हे भगवान! हम मुनि, परन्तु आपके समक्ष तो छोटे बालक हैं, हमारे रोग को आप जाननेवाले हैं। इसलिए हे नाथ! आप हमारे बिना कारण वैद्य हैं। देखो, यह भक्ति! भगवान के समक्ष बालक जैसे होकर भक्ति करते हैं। ● ●

काव्य ५४

सुहमोसि तह ण दीससि जह पहु परमाणुपेत्थियेहिं पि।
गुरवो तह बोहमए जह तइ सव्वं पि सम्मायं॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेश! आप सूक्ष्म तो इतने हैं कि परमाणुपर्यन्त पदार्थों को प्रत्यक्ष करनेवाले भी आपको देख नहीं सकते तथा आप इतने गुरु हैं कि सम्यग्ज्ञानस्वरूप आपमें यह समस्त पदार्थ समूह समाया हुआ है, अर्थात् आपका ज्ञान आकाश में भी अनन्त गुणा है; इसलिए आकाशादि समस्त पदार्थ आपके ज्ञान में झलक रहे हैं।

काव्य पर प्रवचन

हे भगवान! आप ऐसे अचिन्त्य सूक्ष्म हो कि सूक्ष्म परमाणु को प्रत्यक्ष जाननेवाले अवधिज्ञानी भी आपको प्रत्यक्ष देख नहीं सकते हैं। सम्यक्त्वी को अनुभव हुआ है, भान हुआ है परन्तु अभी असंख्य प्रदेशी आत्मा, केवलज्ञानी के जैसा प्रत्यक्ष नहीं दिखता है। प्रतीति हुई है, सम्यग्दर्शन हुआ है परन्तु केवलज्ञान नहीं हुआ है। हे नाथ! हमारी प्रतीति में आत्मा आया परन्तु अभी हमें केवलज्ञान नहीं है; इसलिए हे नाथ! पूर्ण प्रत्यक्ष आत्मा नहीं दिखता – ऐसा

कहकर स्तुतिकार केवलज्ञान की झनझनाहट करते हैं। अवधि, मनःपर्ययज्ञान होवे तो भी केवलज्ञान प्राप्त करने में उनका उपयोग काम नहीं आता। हमारा मति-श्रुतज्ञान का उपयोग होता है और फिर केवलज्ञान होता है। मति-श्रुतज्ञान ही आत्मा को पकड़कर एकाग्र होता है परन्तु वह तो परोक्षज्ञान है। अवधि, मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष है परन्तु उसका उपयोग आत्मा की ओर नहीं होता है; उसका विषय तो रूपी पदार्थ है।

हे नाथ! केवलज्ञान द्वारा आपने ही आत्मा को प्रत्यक्ष किया है। हे नाथ! सूक्ष्म परमाणु को जाननेवाले भी उसे प्रत्यक्ष नहीं देख सकते - ऐसा परम सूक्ष्म (आत्म) स्वभाव है।

हे प्रभु! आप इतने अधिक गुरु हैं कि आपके ज्ञान में लोकालोक समाहित हो जाता है। आकाश से भी आपका ज्ञान गुरु (बड़ा/विशाल) है, क्योंकि आपके ज्ञान में आकाश तो एक परमाणु जितना होकर डूब गया है। ● ●

उसके ध्येय में तो शुद्ध आत्मा ही है

भगवान के भक्त का ध्येय पुण्य में, राग में या संयोग में नहीं है; उसके ध्येय में तो शुद्ध आत्मा ही है; वह परमात्मा के समान अपने शुद्धात्मा को ध्येय बनाकर निर्भयपने मोक्षमार्ग में विचरता है। परमात्मपना ही आत्मा का सर्वोत्कृष्ट सुन्दर रूप है। जिनचरण का अमृत सेवन करनेवाले को उसकी प्राप्ति होती है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य*

काव्य ५५

णिस्सेसवत्थुसत्थे हेयमहेयं निरूवमाणस्स।
तं परमप्पा सारो सेसमसारं पलालं वा॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! समस्त वस्तुओं के समूह में जो मनुष्य हेय तथा उपादेय को देखनेवाला है, उस पुरुष की दृष्टि में, हे परमात्मा! आप ही सार हैं और आपसे भिन्न जितने पदार्थ हैं, वे समस्त सूखे तृण के समान असार हैं।

भावार्थ – यद्यपि संसार में अनेक पदार्थ हैं, किन्तु हे प्रभो! जो मनुष्य हेय–उपादेय का ज्ञाता है, अर्थात् यह वस्तु त्यागने योग्य है और यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है; जिसको इस बात का भलीभाँति ज्ञान है, उस मनुष्य की दृष्टि में यदि सारभूत पदार्थ हो तो आप ही हो क्योंकि आप समस्त कर्मों से रहित परमात्मा हो परन्तु आपसे भिन्न कोई भी पदार्थ सार नहीं। जिस प्रकार सूखा तृण असार है; उसी प्रकार आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असार हैं।

काव्य पर प्रवचन

प्रत्येक तीर्थङ्कर, भगवान ऋषभदेव के समान पूज्य है। सम्यग्ज्ञानी को स्वरूप में निश्चयभक्ति जागृत हुई है, वहाँ

शुभविकल्प आने पर कहता है। हे प्रभु! हे जिनेन्द्र! आप सर्वज्ञ –सर्वदर्शी होने से इस जगत में छह द्रव्य, उनमें अनन्त–अनन्त जीव तथा पुद्‌गल द्रव्य है, उनका स्वरूप तथा हेय–उपादेय का स्वरूप यथार्थरूप से जाननेवाले हैं।

ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में आप ही साररूप हैं। मैं भी परमात्मा हूँ – यही पद मुझे आदरणीय है। ध्रुव–ज्ञानानन्द शक्ति की सच्ची समझ और एकाग्रता से आपने परमपद प्रगट किया है अर्थात् प्राप्त की प्राप्ति की है; उसी प्रकार मैं भी आपके मार्ग में चला आ रहा हूँ। इसलिए आप ही साररूप हो – ऐसा देखता हूँ। पुण्य–पाप में तथा मिथ्यादृष्टियों की किसी बात में मैं सारपना नहीं देखता हूँ।

जिन्हें एक समय में तीन काल–तीन लोक को जाननेवाला पूर्ण ज्ञान हुआ है, ऐसे सर्वज्ञ की जिसे प्रतीति हुई, वह सर्वज्ञ ने देखा, वैसा जगत् में होनेवाला है – ऐसा मानता है। इस कारण उसे कहीं भी कर्तृत्वबुद्धि का अभिमान नहीं होता है। स्वयं शक्तिरूप से सर्वज्ञ के समान ही है। सर्वज्ञ के ज्ञान–अनुसार ज्ञानमात्रपने की दृष्टि जिसे वर्तती है, उसे संसार का अन्त आ जाता है। जड़ की पर्याय जैसे होनेवाली होगी, वैसी होगी; इस कारण उसके कर्तापने की बुद्धि नहीं है। राग होवे, उस पर भी दृष्टि नहीं है; वीतरागस्वभाव पर ही दृष्टि है, उसे एक पूर्ण स्वभाव का ही माहात्म्य रहता है। दूसरा कुछ माहात्म्य नहीं रहता है। ●●

काव्य ५६

धरइ परमाणुलीलं जं गब्भे तिहुयणंपि तंपि णह।
अंतो णाणस्स तुह इयरस्स न एरिसी महिमा॥

अर्थात् – हे प्रभो! हे जिनेश! जिस आकाश के गर्भ में ये तीनों भुवन परमाणु की लीला को धारण करते हैं अर्थात् परमाणु के समान मालूम पड़ते हैं, वह आकाश भी आपके ज्ञान के मध्य में परमाणु के समान मालूम पड़ता है; ऐसी महिमा आपके ज्ञान में ही मौजूद है, किन्तु आपसे भिन्न और किसी भी देव के ज्ञान में ऐसी महिमा नहीं है।

भावार्थ – जैन सिद्धान्त में आकाश अनन्त प्रदेशी माना गया है। उस आकाश के दो भेद स्वीकार किए हैं; एक लोकाकाश, दूसरा अलोकाकाश। जिसमें जीवादि द्रव्य रहें, उसको लोक कहते हैं। वह लोक इस सम्पूर्ण आकाश के मध्य में सर्वथा छोटा परमाणु के समान मालूम पड़ता है, क्योंकि लोक असंख्यात प्रदेशी ही है तथा आकाश अनन्त प्रदेशी है। हे भगवन्! यह एक आपकी अपूर्व महिमा है कि अनन्त प्रदेशी भी यह आकाश आपके ज्ञान में परमाणु के समान ही है अर्थात् हे प्रभो! आपका ज्ञान आकाश से भी अनन्त

गुणा है। किन्तु हे भगवन्! आपसे भिन्न जितने देव हैं, उनमें यह महिमा मौजूद नहीं है क्योंकि जब उनके केवलज्ञान ही नहीं है तो वह अनन्त गुणा किस प्रकार हो सकता है ?

काव्य पर प्रवचन

हे प्रभु! जिस आकाश के गर्भ में यह तीनों लोक परमाणु की लीला को धारण करते हैं, अर्थात् परमाणु के समान ज्ञात होते हैं, वह आकाश भी आपके ज्ञान में परमाणु के समान ज्ञात होता है। ऐसी महिमा आपके ज्ञान में विद्यमान है परन्तु आपसे भिन्न अन्य किसी भी देव के ज्ञान में ऐसी महिमा नहीं है।

हे प्रभु! अनन्त अपरिमित क्षेत्र तो आकाश है, उसकी यह चौड़ाई तीन लोक-चौदह राजू लोक तो असंख्य योजन का है, वह तो एक परमाणु तुल्य छोटा है। अनन्त आकाश का अनन्तता के समक्ष तो वह अनन्तवें भाग है। अपरिमित महान एक आकाश भी आपके ज्ञान में परमाणु तुल्य भासित होता है - ऐसी अपार शक्ति प्रगटरूप से आपको वर्तती है। अनन्त सर्वज्ञपर्याय से पूर्ण एक ज्ञानगुण, ऐसी अनन्त शक्तियों का पिण्ड आत्मा हूँ। आपके समान पूर्ण शक्तिवान हूँ - ऐसी प्रतीति होने से आपकी अपार ज्ञानानन्दमय सामर्थ्य की महिमा करता हूँ। आपकी दिव्यता देखकर आपको ही मानता हूँ, अन्य किसी को नहीं मानता। जैसे, डेढ़ इंच की आँख के द्वारा देखनेवाला ज्ञान भी बहुत जानता है, तो सम्पूर्ण और निरावरण ज्ञान क्या नहीं जानेगा ? सर्व को सर्व प्रकार से एक समय में जाने, वह दिव्य शक्तिमान होता है और वह देव है। ● ●

काव्य ५७

भुवणत्थुय थुणइ जइ जए सरस्सई संतयं तुहं तहवि।
ण गुणंतं लहइ तहिं को तरइ जडो जणो अण्णो॥

अर्थात् – हे तीन भुवन के स्तुति के पात्र! संसार में सरस्वती आपकी स्तुति करती है। यदि वह भी आपके गुणों के अन्त को प्राप्त नहीं कर सकती है; तब अन्य जो मूर्ख पुरुष है, वह यदि आपके गुणों की स्तुति करे तो वह कैसे आपके गुणों का अन्त पा सकता है?

भावार्थ – सरस्वती के सामने पदार्थ के वर्णन करने में दूसरा कोई भी प्रवीण नहीं है क्योंकि वह साक्षात् सरस्वती ही है, परन्तु हे प्रभो! जब वह भी आपके गुणों के अन्त को नहीं प्राप्त कर सकती है, अर्थात् आपके गुणों के वर्णन करने में जब वह भी हार मानती है, तब हे जिनेश! जो मनुष्य मूर्ख है, अर्थात् जिसकी बुद्धि पर ज्ञानावरणकर्म का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा हुआ है, वह मनुष्य कैसे आपके गुणों का वर्णन कर सकता है?

सारार्थ – हे जिनेन्द्र! आपमें इतने अधिक गुण विद्यमान हैं तथा वे इतने गम्भीर हैं कि उनको कोई भी वर्णन नहीं कर सकता।

काव्य पर प्रवचन

हे तीन लोक के स्तुति पात्र प्रभु! संसार में सरस्वती आपकी स्तुति करती है। जब वह भी आपके गुणों का अन्त / पार नहीं पा सकती तो फिर अन्य जो मूर्ख मनुष्य है, वह यदि आपके गुणों की स्तुति करे तो वह आपके गुणों का पार किस प्रकार पा सकेगा?

हे तीन लोक के स्तुति पात्र प्रभु! संसार में सरस्वती अर्थात् सम्यग्ज्ञान, भावश्रुतज्ञान की पर्याय में आपके केवलज्ञान की प्रतीति होने पर भी, जब उसका पूर्ण वर्णन नहीं कर सकती तब अन्य मूर्ख आपके गुणों की स्तुति करना चाहे तो वह कैसे कर सकता है? कर ही नहीं सकता। पुण्य-पाप के आश्रयरहित पूर्ण ज्ञानानन्द का भान होवे - ऐसा सम्यग्ज्ञान ही सरस्वती है।

लाल मिर्च और मिर्च की चरपराहट का ख्याल ज्ञान में आवे परन्तु उसमें अन्तर क्या है? - वह वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार हे नाथ! आपके अनन्त गुण मेरे ख्याल में आ गये हैं परन्तु वाणी तथा विकल्प द्वारा उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। निर्विकल्प होकर अन्तर स्वरूप में स्थिर होने से केवलज्ञान होता है, तब आपके गुणों का पार पाया जा सकता है और स्तुति की पूर्णता होती है। ● ●

काव्य ५८

खयरिव्व संचरंती तिहुयणगुरु तुह गुणोहगयणम्मि।
दूरं पि गया सुइरं कस्स गिरा पत्तपेरंता॥

अर्थात् – हे त्रिभुवन गुरो! हे जिनेन्द्र! आपके गुणों के समूहरूपी आकाश में गमन करनेवाली तथा दूर तक गई हुई ऐसी किसकी वाणीरूपी पक्षिणी है, जो अन्त को प्राप्त हो जावे।

भावार्थ – जिस प्रकार आकाश में गमने करनेवाली पक्षिणी यदि दूर तक भी उड़ती-उड़ती चली जावे तो भी आकाश के अन्त को नहीं प्राप्त कर सकती है, क्योंकि आकाश अनन्त है। उसी प्रकार हे प्रभो! आपके गुण भी अनन्त हैं, इसलिए कवि अपनी वाणी से चाहे जितना आपके गुणों का वर्णन करे तो भी उसकी वाणी आपके गुणों के अन्त को नहीं पा सकती।

काव्य पर प्रवचन

हे नाथ! कहाँ तो केवलज्ञान और कहाँ यह विकल्प? यह विकल्परूप पक्षी आपके केवलज्ञानरूप आकाश का तो पार पा नहीं सकता। हे नाथ! विकल्प द्वारा आपकी स्तुति पूरी नहीं होती,

परन्तु विकल्प तोड़कर स्वरूप में स्थिर होऊँगा, तब आपकी स्तुति पूरी होगी और केवलज्ञान प्रगट होगा।

हे भगवान! आत्मस्वरूप जैसा है, वैसा सम्यग्ज्ञान में आया है परन्तु विकल्प तोड़कर उसमें वीतरागरूप से लीन हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता है। हे नाथ! इस विकल्प द्वारा अन्दर स्वरूप में नहीं पहुँचा जा सकता।● ●

वह महामूर्ख है

आपकी निर्मल परिणति, द्रव्य में से प्रगट हुई है — इस कारण द्रव्य ही आपका कुल है। शारीरिक सम्बन्धों से आपकी पहिचान करनेवाले आपकी पहिचान की विधि से अनभिज्ञ हैं।

यदि कोई हस्तगत सुवर्ण को यह कहकर फेंक दे कि यह तो पत्थर की खान में से उत्पन्न हुआ है तो वह महामूर्ख है। उसी प्रकार जो शरीर के कुल से आपकी पहिचान कराये किन्तु निर्मलानन्द चैतन्यधातु में से आपकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उस कुल को नहीं पहिचाने तो वह भी महामूर्ख है, अज्ञानी है। अचिन्त्य प्रभु अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध ही सर्वज्ञ का 'कुल' है; अत: जो भगवान के शरीर की ही स्तुति करते हैं और शरीर से ही भगवान की पहिचान कराते हैं, वे बड़ी भ्रान्ति में हैं क्योंकि आपकी स्तुति तो आपके गुणों से है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, विषापहार प्रवचन

काव्य ५९

जच्छअसक्को सक्को अणीसरो ईसरो फणीसो वि।
तुह थोत्ते तच्छ कई अहममई तं खमिज्जासु॥

अर्थात् – हे गुणागार! हे प्रभो! जब आपका स्तोत्र करने में इन्द्र भी असमर्थ है और महादेव तथा शेषनाग भी अशक्त हैं, तब आपका स्तोत्र करने में मैं अल्प बुद्धि कवि क्या चीज हूँ? इसलिए मैंने जो भी आपका स्तोत्र किया है, उसको क्षमा कीजिए।

भावार्थ – हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! आपके गुणों का स्तोत्र इतना कठिन है कि साधारण मनुष्यों की तो क्या बात! जो अत्यन्त बुद्धिमान तथा सामर्थ्यवान हैं – ऐसे इन्द्र, ईश्वर (महादेव) तथा धरणेन्द्र भी नहीं कर सकते, किन्तु मुझ अल्प बुद्धि ने इस आपके स्तोत्र के करने का साहस किया है, इसलिए यह मेरा एक प्रकार का बड़ा भारी अपराध है; अतः विनयपूर्वक प्रार्थना है कि इस मेरे अपराध को आप क्षमा करें।

काव्य पर प्रवचन

हे गुण भण्डार प्रभु! आपकी स्तुति करने में देव भी असमर्थ हैं और महादेव भी असमर्थ है। वह आपकी स्तुति करने में मैं

अल्प बुद्धि कवि कौन! इसलिए मैंने जो आपकी स्तुति की है, उसके लिए क्षमा करना।

अन्त में आचार्य भगवान निर्मानता और विनयपूर्वक कहते हैं कि हे भगवान! बड़े-बड़े अवधिज्ञानी इन्द्र भी आपके गीत गाते -गाते थक जाते हैं, धरणेन्द्र को वीणा बजाकर भगवान का भजन करने का बहुत शौक होता है। हे नाथ! वह धरणेन्द्र भी आपकी स्तुति कर करके पार नहीं पा सकता। हे प्रभु! मैं भी आपकी स्तुति पूरी करने में असमर्थ हूँ।

हे भगवान! मैं अल्प शक्तिवाला हूँ तथापि मैंने आपकी स्तुति का उद्यम किया है, उसमें मेरा अपराध हुआ हो तो क्षमा करना। भगवान के समक्ष लघुता बतलाकर बालक की तरह कहते हैं कि हे नाथ! हम तो आपके बालक है, इस बालक के अपराध को क्षमा करना। इस प्रकार विनयपूर्वक आचार्यदेव ने अद्भुत स्तुति की है।●●

गुणों के आधार

हे जिन! दोषों का आधार तो जगत् में बहुत है, परन्तु गुणों का आधार तो आप एक ही हो। जो जीव, राग में धर्म मानते हैं, वे दोष को आधार देते हैं। ऐसे अज्ञानी जीवों में सर्वज्ञता -वीतरागता आदि गुणों को रहने के लिए स्थान नहीं मिला, इसलिए वे सब गुण आप में आकर रहने लगे।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

काव्य ६०

तं भव्वपोमणंदी तेयणिही णेसरु व्व णिद्दोसो।
मोहंधयारहरणे तुह पाया मम पसीयंतु॥

अर्थात् – हे जिनेश! हे प्रभो! आप भव्यरूपी कमलों को आनन्द के देनेवाले तथा तेज के निधान और निर्दोष सूर्य के समान हैं; इसलिए मोहरूपी अन्धकार के नाश करने के लिए आपके चरण सदा प्रसन्न रहें।

भावार्थ – जिस प्रकार सूर्य, कमलों को आनन्द का करनेवाला होता है, तेज का भण्डार होता है, निर्दोष होता है तथा उसकी किरणें समस्त अन्धकार का नाश करनेवाली होती हैं; उसी प्रकार हे प्रभो! आप भी भव्यरूपी कमलों को आनन्द देनेवाले हैं, तेज के निधान हैं तथा निर्दोष हैं, इसलिए आप सूर्य-समान हैं; इसलिए विनयपूर्वक प्रार्थना है कि आपके चरण मोहरूपी अन्धकार का नाश करने के लिए सदा मेरे ऊपर प्रसन्न रहें।

काव्य पर प्रवचन

हे जिनेन्द्र! आप भव्यरूपी कमलों को आनन्द देनेवाले हैं, तेज के निधान और निर्दोष सूर्य के समान हैं, इसलिए मोहरूपी

अन्धकार को नाश करने के लिए आपके चरण सदा प्रसन्न रहो।

'भव्य पद्मनन्दि' कहने में गर्भितरूप से अपना नाम भी आ जाता है। स्तुतिकार पद्मनन्दि महासन्त-मुनि थे। भव्य जीवों के हृदय तो भक्ति के झंकार से खिल उठते हैं। भव्योंरूपी कमल तो यह स्तुति सुनते-सुनते अन्दर में प्रमोद से खिल उठेंगे। देखो, यह भगवान की भक्ति!

हे नाथ! आपके चरण कमल, भव्य जीवों को आनन्द प्रदाता, मोह-अन्धकार के नाशक और ज्ञान के प्रकाशक हैं - ऐसे आपके चरण मुझ पर सदा प्रसन्न रहें - ऐसी मेरी प्रार्थना है।

इस प्रकार परम पूज्य आचार्य पद्मनन्दिदेव द्वारा रचित ऋषभस्तोत्र पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के रविवार, दिनांक ०६ सितम्बर १९५३ से शनिवार, १९ सितम्बर १९५३ तक हुए गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट प्रवचन – 1

नियमसार कलश-१२ पर प्रवचन

यदि तुझे भगवान के प्रति भक्ति नहीं तो....

भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित श्री नियमसार परमागम की टीका करते हुए मुनिराजश्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने गम्भीरतम अध्यात्म के साथ ही जिनेन्द्र भक्ति की रिमझिम वर्षा भी की है। आइये, हम भी उसका आनन्द प्राप्त करें।

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न समस्ति।
तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि॥

भवभय नाशक भगवन्तों के प्रति क्या तुझको भक्ति नहीं?
तो जानो तुम भवसमुद्र-थित मगरमच्छ के मुख में ही॥

अर्थात् भव के भय का भेदन करनेवाले इन भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है? तो तू भवसमुद्र के मध्य में रहनेवाले मगर के मुख में है।

'भव के भय को भेदनेवाले......' अहा! भाषा तो देखो! '**भवभय-भेदिनी**' – ऐसा कलश में है न! अहाहा..... ! ये भगवान भव के भय का भेदन करनेवाले हैं – ऐसा कहते हैं। अरे! सिर पर चौरासी के अवतार की लाठी है; और ऐसे अवतार के-भव के भय के मेंटनेवाले ये त्रिलोकीनाथ देवाधिदेव सर्वज्ञपरमात्मा हैं – ऐसे

भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है? तात्पर्य यह है कि धर्मात्मा को भक्ति होती ही है। यदि तुझे भक्ति नहीं है तो तुझे सर्वज्ञ–स्वभावी निज आत्मा की भक्ति भी नहीं है – ऐसा कहते हैं।

यह व्यवहारश्रद्धा की बात है न! अतः यहाँ से प्रारम्भ किया है कि 'भव के भय का भेदन करनेवाले इन भगवान.....' अहाहा....! भगवान, भव के भय का भेदन करने–वाले हैं, यह तो निमित्त की मुख्यता की बात है क्योंकि भगवान की वाणी में भव के अभाव की ही बात आती है। भगवान स्वयं भवरहित हो गये हैं और इसलिए उनकी वाणी में सहज ही भवरहित होने की बात आती है। भव से लाभ है और कोई भव भला है – ऐसी बात भगवान की वाणी में कभी नहीं आती। तो ऐसे भगवान की श्रद्धा तुझे कैसे नहीं होगी? होगी ही, होनी ही चाहिए – ऐसा यहाँ कहना है। निश्चयश्रद्धा भगवान आत्मा की है तो ऐसे भगवान की भी तुझको श्रद्धा–भक्ति होनी चाहिए।

अहाहा.....! अन्दर जो शक्तिरूप पूर्णज्ञानानंद की लक्ष्मी विद्यमान है, वह जिनको पर्याय में प्रगट हो गई है; उनको भगवान कहते हैं परन्तु अभी तो बाहर हर कोई (रागी) अपने को भगवान मनवाते हैं परन्तु ऐसे कोई भगवान नहीं हैं, वे सब तो भिखारी हैं। यहाँ तो आत्मवस्तु का जो बेहद अनंत–अपरिमित ज्ञानानन्दस्वभाव है, उस स्वभाव के सत्त्व का तत्त्व जिनकी पर्याय में पूर्ण प्रगट हो गया है, वह भगवान है और ऐसे भगवान की वाणी में भव के भेदन करने की बात आती है। अहा....! भगवान ने स्वयं भव का छेद कर दिया है और उनकी वाणी में भी भव के छेदन करने की ही बात आती है; इसलिए भगवान की वाणी भी भव को छेदनेवाली है। अहा...! ऐसे भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है? अर्थात् तुझे भक्ति होनी चाहिए।

यदि भक्ति न हो तो ?

'तो तू भवसमुद्र के मध्य में रहनेवाले मगर के मुख में है।'

यदि तुझको वीतराग परमेश्वर की भक्ति-श्रद्धा नहीं है तो तू चौरासी के अवतार समुद्र के मध्य में रहनेवाले मगरमच्छ के मुख में है, अर्थात् तू भवसमुद्र में कहीं गहरा डूबनेवाला है।

अहा! भगवान त्रिलोकीनाथ अरहंत परमात्मा के जैसा आत्मा है, तो जिसको अपनी (निज आत्मा की) भक्ति है। उसको ऐसे (भव-भव का भेदन करनेवाले) भगवान की भक्ति का विकल्प अवश्य होता है, वह यह दर्शाता है; उसको निश्चयसमकित है अर्थात् भेद, अभेद को बताता है। यहाँ जिसको निश्चयसमकित है, उसकी ही बात है; जिसको अकेला व्यवहार है, उसकी बात यहाँ नहीं है।

अहाहा......!'इन भगवान के प्रति' देखो!'इन' भगवान लिया है। इसका क्या आशय है ? कि जिनकी मोक्षदशा-केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख आदि पर्याय में प्रगट है, वे केवली, साक्षात् भगवान हैं, प्रभु हैं। यद्यपि वह पर्याय तो बहि:तत्त्व है; तथापि जिसको अन्दर में निजशुद्ध अन्त:तत्त्व का भान है, उसको ऐसे बहि:तत्त्व की (देवतत्त्व की) श्रद्धा का विकल्प होता है – ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। जगत का कर्त्ता अन्य कोई देव है – ऐसी अज्ञानी लोगों की मान्यता और ऐसा व्यवहार उसको नहीं होता; इसलिए कहा है कि यदि तुझे ऐसे परमेश्वर की भक्ति नहीं है तो तू संसारसमुद्र के मध्य में रहनेवाले मगर के मुख में है। तू संसारसमुद्र में कहीं खो जानेवाला है।

'तुम हमारा भजन किया करो और मैं तुमको मोक्ष दूँगा' – ऐसा कहनेवाला भगवान ही नहीं है और यह मार्ग भी नहीं है। भगवान तो

ऐसा कहते है कि 'मैं जैसा पर्याय में हूँ, वैसा ही तेरा अंदरस्वरूप है; इसलिए यदि अन्तर्दृष्टि द्वारा तुझे अपनी भक्ति प्रगट हुई हो तो तुझको हमारे प्रति भक्ति का विकल्प होता है' – बस इतना ही। (इस भक्ति से कल्याण हो जायेगा – ऐसा नहीं है)।

भक्ति दो प्रकार से है न? १. निश्चयभक्ति और २. व्यवहारभक्ति। निश्चयभक्ति उसे कहते हैं कि स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा सिद्धस्वरूप परमात्मा है; उसकी अन्तर्मुख एकता से प्राप्त श्रद्धान, वह निश्चयभक्ति, अर्थात् समकित है और उसको निमित्तरूप से बतानेवाली – ऐसे भगवान की श्रद्धा का विकल्प, वह व्यवहारभक्ति है।

प्रश्न :– निश्चय और व्यवहार परस्पर साध्य-साधक हैं, परस्पर सापेक्ष हैं - ऐसा भी जयसेनाचार्य की टीका में आता है ?

समाधान :– हाँ, परन्तु इसका अर्थ क्या ? कि जहाँ अन्तरङ्ग में निश्चय होता है, वहाँ ऐसा व्यवहार होता ही है और व्यवहार ऐसा हो; वहाँ निश्चय भी ऐसा होता है – इस प्रकार परस्पर सापेक्ष है। श्री प्रवचनसार (श्लोक-१२) में आया है कि जिसको ऐसा सच्चा व्यवहार हो उसको, उस व्यवहार से अनुमान करना कि वहाँ अन्दर ऐसा निश्चय है, अर्थात् उसको ऐसा निश्चय होता है और जिसको ऐसा निश्चय-छठवें गुणस्थान की वीतरागीदशा होती है, उसको बाहर में व्यवहार भी ऐसा ही-पञ्च महाव्रतादि के परिणाम होता है। वहाँ 'अनुसार' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् व्यवहार, निश्चयानुसार और निश्चय, व्यवहारानुसार होता है। तात्पर्य यह है कि जिसको अन्तरंग में निश्चय होता है, उसको बाहर में ऐसा व्यवहार होता है और बाहर में जिसको ऐसा व्यवहार होता है, उसको अन्तरंग में निश्चय होता है – ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। (निश्चय-व्यवहार इस

प्रकार साध्य-साधक हैं परन्तु व्यवहार, निश्चय को कर देता है – ऐसा साध्य-साधक नहीं है।)

अहा...! आत्मा महाप्रभु है क्योंकि उसके गर्भ में संवर, निर्जरा, मोक्ष पड़े हुए हैं। (मोक्षपाहुड़, गाथा-104) में आता है कि पञ्च परमेष्ठी तेरे पेट में-तेरे आत्मा में हैं अर्थात् भगवान! तू पञ्च परमेष्ठीस्वरूप ही है। अहा....! ऐसी संवर-निर्जरा और मोक्ष की दशा का-सम्पूर्ण अनन्त दशा का सागर भगवान आत्मा है। जिसको उसकी प्रतीति और अनुभव हुआ है, उस सम्यग्दृष्टि को ऐसे परमेश्वर की ही-पूर्ण मोक्षदशा-परमसुख की दशा, जिनको प्रगटी है; उन परमेश्वर की ही श्रद्धा बाह्य में होती है। इसके अतिरिक्त उसको अन्य की श्रद्धा-भक्ति नहीं होती। अहा! जिसको पूर्णदशा की श्रद्धा होती है, उस समकिती को ही नौ तत्त्वों की सच्ची श्रद्धा होती है, अर्थात् साधकजीव को ऐसे संवर-निर्जरा होते हैं और साथ ही ऐसा आस्रवादि बाधकभाव भी होता है – यह सब उसकी नव तत्त्व की श्रद्धा में आ जाता है।

यहाँ कहते हैं – यदि तुझे इन भगवान की भक्ति नहीं है, तो अरे! 'तू भवसमुद्र के मध्य में रहनेवाले.....' देखो! भवसमुद्र के किनारे नहीं, परन्तु मध्य में....! अहा....! तू पूर्ण परमात्मस्वरूप है परन्तु तुझको उसका भान नहीं होवे तो ऐसे भगवान की श्रद्धा भी तुझे नहीं है और तब तो तू भवसमुद्र के मध्य में है और वह भी (मिथ्यात्वरूप) मगर के मुख में है। तात्पर्य यह है कि चौरासी के अगाध भवसमुद्र में कहीं गहरे डूब जायेगा। वहाँ ऐसे क्षुद्र भव मिलेंगे कि जहाँ मन भी नहीं मिलेगा। अनन्त काल में कदाचित् मनवाला हो तो तिर्यञ्च का भव मिले। अरे! कैसे-कैसे भव होते हैं, देखो न! बाघ, सिंह, सर्प इत्यादि के भव! भाई! इस तरह (भवसागर में) कहीं गहरा

डूबा हुआ था कि जहाँ से मनुष्यपना प्राप्त होना अत्यन्त कठिन था परन्तु अरे रे! इसको विचार ही नहीं है कि मैं कौन हूँ और कहाँ हूँ? तथा कहाँ जाऊँगा? यह क्या हो रहा है? और इसका क्या फल आयेगा? भाई! यह विचार करने का अवसर है। (ऐसा अवसर पुनः नहीं मिलेगा)।

अहा! कहते हैं कि यदि देव-गुरु-धर्म और नव तत्त्व की श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है तो तुझको आत्मा की भी श्रद्धा नहीं है और तब तो तू भवसमुद्र में डूबा ही डूबा है। अहो! यह भी क्या (अद्भुत) कलश है!

प्रश्न :- यह मार्ग तो कठिन है, इसके बदले जनसेवा करें तो?

उत्तर :- किसकी सेवा करें बापा! तू कहाँ गहराई में गया? क्या कर सकता है — इसका भी पता नहीं है। अब इसमें से-बाहर की महत्ता और कर्त्तापने के अभिमान में से निकलना बहुत कठिन पड़ेगा। बाहर की प्रवचनकर्ता की महत्ता में फँस गया तो वहाँ से निकलना कठिन पड़ेगा। बाहर की प्रशंसा, महत्ता और प्रतिष्ठा क्या चीज है? वह सब तो संसारसमुद्र में डूबने का ही (मार्ग) है; वह तुझे काम नहीं आयेगा। निजस्वरूप की भक्ति और साथ में भव के भय का भेदन करनेवाले भगवान की भक्ति यदि नहीं है तो अन्य कुछ भी तेरे काम नहीं आयेगा।●

परिशिष्ट प्रवचन – 2

नियमसार गाथा ६ पर प्रवचन

अट्ठारह दोषरहित जिनेन्द्र परमात्मा

छुहतणहभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
सेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो॥ ६॥

क्षुधा तृष्णा भयं रोषो रागो मोहश्चिन्ता जरा रुजा मृत्युः।
स्वेदः खेदो मदो रतिः विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगौ॥

है दोष अष्टादश कहे रति मोह, चिन्ता, मद, जरा।
भय, दोष, राग, रु जन्म, निद्रा, रोग, खेद, क्षुधा, तृषा॥

गाथार्थ : क्षुधा, तृषा, भय, रोष (क्रोध), राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद (पसीना), खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग (यह अठारह दोष हैं)।

✧ ✧ ✧

'यह अठारह दोषों के स्वरूप का कथन है।'

अहाहा.....! भगवान केवली परमात्मा, कि जिनकी वाणी की रचना आगमरूप है, वे कैसे दोषों से रहित होते हैं, उसका यह कथन है।

असातावेदनीय सम्बन्धी तीव्र अथवा मन्द क्लेश की करनेवाली यह क्षुधा है। (अर्थात् विशिष्ट-खासप्रकार के

असातावेदनीय कर्म के निमित्त से होनेवाली, जो विशिष्ट शरीर -अवस्था उस पर झुकाव करने से मोहनीयकर्म के निमित्त से होनेवाला, जो खाने की इच्छारूप दुःख, वह क्षुधा है।)

अहा! जहाँ पूर्ण अमृत का सागर अनुभव में आता है, वहाँ भगवान को क्षुधा कैसी ? अहा... ! अन्दर आत्मा अनन्त अमृत का सागर भरा है, वह जहाँ पर्याय में पूर्ण उछल रहा है, वहाँ ऐसे अमृत के अनुभव करनेवाले भगवान केवली परमात्मा को क्षुधा कैसी ? भाई! भगवान तो अनन्त अमृत के आनन्द का भोजन कर रहे हैं, उनको क्षुधा नहीं होती। अहा! अरहन्त परमेश्वरदेव उनको कहते हैं, जिनको क्षुधा नहीं होती। अरे! नीचे (चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में) भी जब जीव अमृतसागर प्रभु आत्मा के अनुभव में होता है, तब उसको आहार की इच्छा नहीं होती (यद्यपि बाहर में विकल्प में आने पर वृत्ति उत्पन्न होगी); तो फिर ये केवलीप्रभु तो अनन्त-आनन्द के सागर में डोल रहे हैं, उनको (प्रति समय) अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण वेदन है; फिर उनको क्षुधा कैसी ? अहो! अरहन्तदेव को प्रति समय अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द के भोगनेरूप भोजन होता है। उनको क्षुधा होती है और वे आहार करते हैं - ऐसा मानना कलंक है। ऐसा माननेवाले सच्चेदेव को पहिचानते ही नहीं।

अहा.... ! भगवान सर्वज्ञदेव को असाता का तीव्र उदय नहीं होता। ऐसा विशिष्ट-खासप्रकार के-असातावेदनीयकर्म का उदय भगवान के नहीं है और मोहनीय का तो सर्वथा अभाव है। इस कारण भगवान को भोजन की इच्छारूप क्लेश-दुःख-क्षुधा और भोजन नहीं होता। अहा! जिनकी वाणी-दिव्यध्वनि आगम कहलाती है, उन भगवान को क्षुधादि दोष नहीं होते और ऐसे दोषवाले की वाणी को आगम नहीं कहते और न वह देव ही होता है।

अहा! भगवान के शरीर में रोग हुआ और उन्होंने आहार लिया – ये सब कथन मिथ्या हैं। अहा....! जो परमेश्वर हुए उनको भी अभी क्षुधा! अरे! जिनके भक्त जो देव और इन्द्र हैं, उनको भी जहाँ ३३ हजार वर्षों में आहार की इच्छा होती है, वहाँ उनको (भगवान को) दिन-प्रतिदिन आहार! – ऐसा नहीं हो सकता। भाई! तीर्थंकर का शरीर तो सदा सुन्दर ही होता है, उनको नोकर्मरूप आहार (शरीर के योग्य परमाणु) सदा आया ही करते हैं परन्तु उनको यह कवलाहार नहीं होता। भगवान के कवलाहार माननेवाले भगवान को नहीं पहिचानते हैं और स्वयं पूर्णपरमात्मस्वरूप क्या वस्तु है, इसका भी उनको पता नहीं है। अहा! जिसकी अंशदशा में भी पूर्णता है – ऐसे को जो क्षुधा ठहराते हैं उन्हें, सम्पूर्ण आत्मा का-निज पूर्णानन्दस्वरूप अंशी का पता और श्रद्धा नहीं है – ऐसा कहते हैं। यहाँ तो यह स्पष्ट बात है।

अहा.....! शरीर की अवस्था में जठर की विशिष्ट अवस्था होने पर उस पर लक्ष्य जाता है, तब मोहनीयकर्म के निमित्त से होनेवाला खाने की इच्छारूप दुःख-पीड़ा वह क्षुधा है और वह (क्षुधा) वीतराग परमेश्वर परमात्मा के, वे शरीर और वाणीवाले होने पर भी, नहीं होती, हो भी नहीं सकती। अहा! जहाँ मोह का सर्वथा अभाव हुआ और जहाँ अमृत के सागर सर्वांग (सर्वप्रदेशों में) उछला है, वहाँ क्षुधा कैसी? अरे! समकित में भी, कि जहाँ अमृत का एक अंश अनुभव में आता है; वहाँ भी उसको अन्दर से सारी दुनियाँ की तृष्णा उड़ जाती है, अर्थात् रुचि में सारा संसार छूट जाता है, तो फिर निरन्तर आत्मा के पूर्ण अमृत के आनन्द के स्वादवाले ऐसे भगवान को-पूर्ण वीतराग परमेश्वर को क्षुधा हो, यह कैसे सम्भव है? अहा! जिनके क्षुधादि शेष नहीं हैं, उनको ही भगवान कहा जाता है।

अहा! भगवान आत्मा के अनन्त आनन्द में से एक अंश का भी स्वाद जहाँ समकित में आया, वहाँ धर्मी गृहस्थाश्रम में होने पर भी...

प्रश्न : – धर्मी तो बाहर में-गृहस्थाश्रम में नहीं होता है न ?

समाधान : – हाँ, समकिती तो अपने आत्मा में-आत्मा के आनन्द में ही है; वह न तो गृहस्थाश्रम में है और न अन्य शरीरादि में ही है परन्तु भाषा क्या कहें ? (निमित्त-परक भाषा ऐसी ही आती है)। वरना तो (ज्ञानी) राग में नहीं है, पुण्य में नहीं है, शरीर में नहीं है, स्त्री-पुत्र में नहीं है और राज्य में भी नहीं है। अहा! आत्मा के आनन्द के समक्ष धर्मी को इन्द्र का इन्द्रासन और इन्द्राणी के भोग भी जहर के समान अरुचिकर लगते हैं, उसको उनका प्रेम नहीं होता।

यहाँ कहते हैं – 'भगवान को आहार लेने का भाव आता है, उसे लेने से शरीर सुन्दर-पुष्ट रहता है' – बापू! ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है; और जैसी वस्तुस्थिति नहीं हैं, वैसा मानना तो भ्रम-भ्रान्ति है। भगवान! तू भ्रम में चढ़ गया है।

यह नियमसार सिद्धान्तशास्त्र है। इसकी छठवीं गाथा चल रही है। उसमें क्या कहते हैं ? कि जिनको आत्मा के आनन्द की पूर्णदशा प्रगट हो गयी है — ऐसे वीतरागी सर्वज्ञ परमेश्वर को, भले ही शरीर हो तो भी, क्षुधादि दोष नहीं होते – ऐसी ही वस्तुस्थिति है।

अहा! आत्मा चैतन्यवस्तु द्रव्य है, उसके गुण हैं और वर्तमान....वर्तमान वर्तती पर्याय, सो अवस्था है। बस, ये तीन इसकी हयाती (अस्तित्व) में है, यह इसका अस्तित्व है। अहा! आत्मा वस्तु तीन प्रकार से है :– १. द्रव्यपने, २. गुणपने और ३. वस्तुपने-अवस्थापने — इन तीन में वह (आत्मा) है परन्तु इसके अतिरिक्त आत्मा न तो कर्म में है, न शरीर, वाणी, स्त्री, पुत्र अथवा कुटुम्ब में है क्योंकि ये सब तो पर-वस्तुएँ हैं, इसलिए इनमें

आत्मा नहीं है और ये चीजें आत्मा में नहीं हैं। अब इसमें जो राग द्वेष-मोह की एक समय की अंशदशा है, उस पर अनादि से इसकी रुचि है और उसी को यह मानता है; इसलिए अब जिसको हित करना है, दुःख का अभाव करके सुखी होना है, उसको पर्याय में-दशा में जो राग-द्वेष-मोह ज्ञात होते हैं, उनकी रुचि और उनका आश्रय छोड़ना चाहिए क्योंकि उनकी रुचि में तो यह (आत्मा) अनादि से है ही और उसी से तो यह दुःखी है। सूक्ष्म बात है प्रभु! परन्तु अरे! राग की और शरीर की रुचि की आड़ में इसने इस बात को सुनने की दरकार नहीं की है।

यहाँ यह हड्डियाँ और शरीर तो जड़ हैं और वे तो उनमें जड़पने जड़ होकर रहे हुए हैं, वे कोई आत्मा में नहीं हैं; न आत्मा चैतन्यवस्तु उनमें है। अब उसमें (आत्मा में) उसकी अनादि की दशा में प्रगट हैं, वे मोह-राग-द्वेष हैं परन्तु वे दुःखरूप हैं; उनके द्वारा यह अनादि से दुःखी है, इसलिए जिसको दुःख का नाश करना हो, उसको पर्याय में रहा हुआ अंशपने की और राग-द्वेष-मोह की रुचि छोड़कर अर्थात् वे हैं तो भी उनको लक्ष्य में से छोड़कर सम्पूर्ण वस्तु को कि जो अनन्त आनन्द का कन्द है और जो व्यक्त नहीं होने पर भी अन्दर से त्रिकाल विद्यमान है, उसका आश्रय लेना चाहिए। अहा....! वस्तु जो पूर्ण है, वह पर्यायरूप से प्रगट नहीं है; तथापि वह वस्तुपने तो अन्दर प्रगट ही है क्योंकि वस्तु है न! अहा! यह वस्तुस्थिति है और यहाँ इसी प्रकार बात चलती है।

अहा....! यह त्रिकालीध्रुव निजचैतन्यवस्तु है, उस पर दृष्टि देने से और उसमें ही लीनता करने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति का परिणमन होता है; उसको यहाँ दुःख से मुक्त होने का उपाय कहा गया है और वह सच्चा मोक्षमार्ग है। अहा! जिसको ऐसा

निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट है, होता है; उस धर्मात्मा को देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा कैसी होती है, वह यहाँ कहते हैं। उसमे यह देव के स्वरूप की बात है।

अहा.....! अनादि से संसारदशा थी, उसका नाश होकर जिनको दिव्यशक्ति प्रगट पर्यायरूप परिणम गयी है अर्थात् जो पर्यायबुद्धि थी, उसका नाश करके निजस्वभाव में बुद्धि स्थापकर और उसमें ही स्थिर-लीन होकर जिन्होने वर्तमान दशा में पूर्ण आनन्द, ज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय प्रगट किया है – ऐसी दिव्यता के धारक देव हैं। उन देव को समकिती, व्यवहारदेव के रूप में मानता है। अहाहा...! निश्चयदेव तो दिव्यशक्ति का भण्डार भगवान आत्मा स्वयं है और जिनको पर्याय में पूर्ण दिव्यता प्रगट हो गयी है, उनको ही देव के रूप में सम्यग्दृष्टि स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त अन्य को (रागी को) वह देव के रूप में नहीं मानता क्योंकि जो क्षुधादि अठारह दोषों से रहित पूर्णदशा को प्राप्त होते हैं, वे ही देव हैं। अहा....! सुख के पंथ में गतिशील सम्यग्दृष्टि-धर्मी, पूर्ण सुखी वीतराग को ही देव मानता है।

अहा! जो सर्वज्ञ-वीतरागदेव होते हैं, उनको क्षुधा नहीं होती – यह बात चलती है। अहाहा....! अनन्त-अनन्त आनन्द अमृतरस के स्वादवाले स्वरूपानन्दी परमात्मा को क्षुधा कैसे हो सकती है कि जिससे वे आहार लें और खायें ? भाई! जो आहार लेता और खाता है, वह परमात्मा ही नहीं होता। भगवान को राग हुआ और उन्होंने.......आहार लिया – यह सब बातें एकदम कल्पित हैं – ऐसा कहनेवाले को सच्चेदेव के स्वरूप का परिज्ञान नहीं है और उसको, स्वयं अंदर में आत्मदेव कैसा है, इसका भी पता नहीं है। अज्ञानवश स्वानुभवरहित वह सच्चेदेव को नहीं स्वीकारता और

उससे विपरीत देव को मानता है। वस्तुतः जिसको पर्यायबुद्धि पलटकर द्रव्यदृष्टि हुई है, उसको ही दोषरहित सच्चेदेव की श्रद्धा होती है और वैसी श्रद्धा को व्यवहार समकित कहते हैं।

भाई! आहार की इच्छारूप दुःख, वह क्षुधा है। क्षुधा तो दुःख -पीड़ा है; अतः वह भगवान को कैसे हो ? अहाहा! जिनके अन्तर में अमृत के-परमानन्द के बहाव पूर्ण बह रहे हैं, उन देवों को क्षुधा नहीं होती और जिसको क्षुधा हो, वह देव ही नहीं है। यदि भगवान, आहार लें और उनको क्षुधा का दुःख हो तो अनन्त-आनन्द को बाधा आती है, भगवान को अनन्त-आनन्द है, इसमें बाधा आती है परन्तु न तो ऐसा है और न हो सकता है। अहा...! निर्मलानन्द का नाथ पूर्णानन्दप्रभु आत्मा अन्दर है, जिसको उसका अन्तर्दृष्टि में स्वीकार हुआ है; वह धर्मी पुरुष, क्षुधादि दोषरहित वीतराग सर्वज्ञदेव को ही देव के रूप में स्वीकार करता है और वही यथार्थ है – इस प्रकार यह पहला (क्षुधा का) बोल हुआ।

असातावेदनीय सम्बन्धी तीव्र, तीव्रतर (अधिक तीव्र), मन्द अथवा मन्दतर पीड़ा से उत्पन्न होनेवाली, वह तृषा है। (अर्थात् विशिष्ट असातावेदनीय कर्म के निमित्त से होनेवाली, जो विशिष्ट शरीर-अवस्था, उस पर झुकाव करने से मोहनीकर्म के निमित्त से होनेवाला; जो पीने की इच्छारूप दुःख, वह तृषा है।)

अहा....! केवली परमात्मा को तृषा नहीं होती। अहा....! अन्दर आत्मवस्तु ही ऐसी अतीन्द्रिय सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु है कि उसका जहाँ भान होता है, वहाँ धर्मी-सम्यग्दृष्टि पुरुष भी सम्यग्दर्शन में और स्वानुभव में अतीन्द्रिय आनन्द का निर्विकल्परस पीता है, तो जिनको परमात्मदशा हो, उनको तो निरन्तर पूर्ण निर्विकल्प आनन्द

के रस का ही पीना होता है परन्तु यह पानी का पीना नहीं होता। **'निर्विकल्प रस पीजिये'** — ऐसा आता है न..! अहाहा...! निरन्तर निर्विकल्प आनन्द के रस को पीनेवाले को क्या पीड़ा है कि वह पानी पीवे? भगवान को तृषा ही नहीं होती, अतः पानी का पीना भी नहीं होता।

भाई! यह पुण्य-पाप के भाव, कि जो विकल्प-राग हैं, वह तो जहर का पीना है बापा! और यह राग का रस-जहर का रस तो (तू) अनादि से पीता है; अरे! परन्तु इसे कुछ भी पता नहीं है। जहर पीकर मानता है कि मैं सुखी हूँ; शरीर ठीक हो तो मानता है कि सुखी हूँ परन्तु बापू! यह देह तो मिट्टी-धूल जगत की वस्तु है, यह कहाँ इसकी (आत्मा की) है ? और यह कहाँ इसकी (आत्मा की) होकर रही है? क्या यह आत्मा की होकर रही है? नहीं, यह तो जड़ की, जड़रूप होकर रही है; यह कभी जीवपने न तो हुई है और न कभी हो सकती है परन्तु इसका पता इसको नहीं है। अहाहा...! भगवान आत्मा तो देहरहित-देह से भिन्न अकेले अमृतमय आनन्द का सागर है।

यहाँ कहते हैं – जिसने उसकी (आत्मा की) अन्तर्दृष्टि करके निर्विकल्प अमृत का प्याला पिया है, जिसको धर्मदृष्टि प्रगट हुई है वह, जिसको तृषा नहीं हो – ऐसे पूर्ण अनन्त अमृतरस के आस्वादी को ही देव के रूप में व्यवहार से मानता है। भाई! काम भारी है।

अहा..! जिनको पूर्ण आनन्द प्रगट है – ऐसे भगवान केवली को जैसे क्षुधा नहीं होती, वैसे ही तृषा भी नहीं होती – ऐसा कोई दोष नहीं होता परन्तु अज्ञानी को ऐसे परमात्मा की खबर नहीं है। अहा...! तीव्र, तीव्रतर, मन्द अथवा मन्दतर पीड़ा से उपजती तृषा भगवान को होती ही नहीं क्योंकि भगवान को ऐसा विशिष्ट-खासप्रकार

का (तृषा उपजावे वैसा) असातावेदनीय का उदय नहीं होता। केवली के साधारण असाता का उदय होता है परन्तु यहाँ 'विशिष्ट' शब्द है न? तात्पर्य यह है कि खासप्रकार का उदय नहीं होता; तथा भगवान वीतरागपरमेश्वर के मोहनीय का तो सम्पूर्ण अभाव है; इसलिए उनके इच्छा का सर्वथा अभाव ही है और पूर्ण आनन्द प्रगट है तो फिर पीने की इच्छा कैसे होगी? नहीं हो सकती। भगवान को पीने की इच्छा भी नहीं है और इच्छाजनित तृषा की पीड़ा भी नहीं है। अहाहा...! अरहन्तपरमेश्वर सर्वज्ञपरमात्मा को तृषा होती नहीं, हो सकती ही नहीं।

अहाहा...! शरीर में रहने पर भी (यह निमित्त से कथन है) केवलज्ञानी परमात्मा को, कि जो एक समय में युगपत् तीन काल -तीन लोक को जानते हैं तथा जो अनन्त-आनन्दरस को पीते हैं; उन स्वरूपानन्दीप्रभु को तृषा होती ही नहीं। अहा...! भगवान अरहन्तदेव तो समस्त इच्छाओं का नाश करके अपने स्वरूप में तृप्त...तृप्त...तृप्त हो गये हैं, निजानन्दरसलीन स्वरूपगुप्त ऐसे भगवान को तृषा नहीं होती तो भी उनको तृषा मानना कलंक है, वह भगवान को कलंक लगाता है – ऐसी बात है।

इस लोक का भय, परलोक का भय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय तथा अकस्मात् भय — इस प्रकार भय सात प्रकार के हैं।

अहा....! भगवान को कोई भय नहीं होते। जो साक्षात् परमामृत के अनुभव में स्थित हैं, उनको भय कैसा ? अरे! सम्यग्दृष्टि को भी भय नहीं है। समयसार निर्जरा अधिकार में आता है न? अहो! अन्दर आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है। अहाहा...! वस्तु.... वस्तु... वस्तु.. अस्ति सत्तारूप पदार्थ आत्मा है या नहीं ? है न। अहा...!

आत्मा वस्तु अस्ति है, वह स्वभाववान है तो उसका स्वभाव क्या? अहाहा.... ! अनन्तज्ञान, अनन्त-आनन्द इत्यादि स्वभाव से वह भरपूर भरा है। स्वभाव है, उसकी हद क्या है ? प्रभु आत्मा अनन्त-अनन्त ज्ञान-आनन्द से भरपूर है। अहा! जिसकी ऐसे निजस्वरूप की अन्तर्दृष्टि होकर धर्म की दृष्टि प्रगट हुई है, अन्तर में भान हुआ है, उसको भी भय नहीं होता, वह निर्भय है; तो फिर जिनको पूर्ण धर्म प्रगट है, उन धर्म के ईश्वर भगवान केवली को भय कैसे होगा ? नहीं होगा, नहीं हो सकता।

अहा.... ! देव को-भगवान केवली को इस लोक का भय नहीं होता। क्यों ? क्योंकि निजचैतन्यलोक ही अपना लोक है। अब इसमें उनको भय किसका ? अरे! इस लोक में लक्ष्मी चली जायेगी तो ? पुत्री जन्म कर मर जायेगी तो ? आदि भय नहीं होता। जब लोक के पदार्थ इसके चैतन्यलोक में ही नहीं हैं तो भय किसका ? भगवान पूर्ण निर्भय हैं। अहा! जहाँ सम्यग्दृष्टि निर्भय है तो केवली की तो क्या बात! वे तो निर्भय...निर्भय.....पूर्ण निर्भय हैं।

सम्यग्दृष्टि का पहला गुण ही निःशकपना-निर्भयता है। अहो! निःशंक और निर्भय – ऐसा अखण्डानन्दस्वरूप चैतन्य वज्र की मूर्ति, मैं आत्मा हूँ। यह शरीर, राग और पुण्य-पाप मैं नहीं हूँ; क्योंकि ये सब अनात्मा हैं, पर हैं। अहा! ऐसा भान जिसको स्वानुभव की दशा होकर हुआ हो, उस धर्मी को, कि जो सुख के पंथ में आरुढ़ है; उसको भय नहीं होता। वह अन्दर निःशंक है न! इसलिए अहा! ऊपर से इन्द्रों का वज्र गिरे तो भी वह भय को प्राप्त नहीं होता। वह सदा जानता है कि 'मेरी नगरी निर्भय है।' अहाहा... !

'निर्भयनगरी सुहावनी रे, जहाँ बसे मेरा नाथ।'

'नाथ' अर्थात् स्वयं। अब जहाँ समकिती-धर्मी को भय नहीं है

तो जिनको पूर्ण केवलज्ञानदशा–पूर्ण दिव्यशक्ति प्रगट हुई है, उन केवली भगवान को भय कैसे हो सकता है ? अहाहा... ! केवलज्ञानी सर्वज्ञदेव को क्या शंका और क्या भय ?

अहा! अज्ञानी तो देव नाम धराता है और हाथ में धारण करता है त्रिशूलादि हथियार। इसका अर्थ क्या ? यही कि वह भयवान है, इसलिए उसे देव नहीं कहा जाता। धनुष, तीर, गदा आदि धारण करनेवाला देव नहीं है, क्योंकि उसको शत्रु का भय लगता है; इसीलिए तो वह हथियार रखता है। हथियारधारीदेव, परमेश्वर अथवा परमात्मा नहीं हो सकता।

अरे! लोगों को 'मैं कौन हूँ और परमात्मा कौन हैं' कुछ भी पता नहीं है। वे तो इस दुनिया की व्यवस्था में–इस शरीर, स्त्री–पुत्र –परिवार और मकान–व्यापार आदि धूल की जो अपने में नहीं है, उसकी व्यवस्था में पड़े हैं। स्वयं जिनमें नहीं है, उनकी सँभाल रखना चाहते हैं और स्वयं जिसमें है; उस आत्मा की सँभाल करने की दरकार ही नहीं करते। यहाँ कहते हैं कि जिसने अपनी निजचैतन्यवस्तु की सँभाल की है, उस समकिती को भय नहीं है तो फिर जो पूर्ण परमात्मा हुए हैं, उनको भय कैसा? जिसने ऐसी निज निःशंक वस्तु को जाना और माना है, उस धर्मी के व्यवहार परमेश्वर भी ऐसे पूर्ण निर्भय होते हैं। वह उनको देव मानता है, अन्य को नहीं।

'यहाँ से मरकर अन्यत्र कहाँ जाऊँगा ?' – ऐसा परलोक का भय, समकिती को नहीं है। अहा! मैं कहाँ जाऊँगा ? मैं तो चिदानन्द –ज्ञानानन्दप्रभु आत्मा, जहाँ होऊँ वहाँ सदा अपने में ही हूँ। इन स्त्री –पुत्रादिक में अथवा देव, नारक में कहीं आत्मा नहीं है – ऐसा कहते हैं। भारी बात है भाई! अरे! इसको क्या ? कि जो अपने में नहीं है, उसमें रुक गया है और अपने को संभालना एकदम चूक गया है।

यहाँ तो भगवान! तेरे जन्म-मरण के दुःख के चक्कर कैसे मिटें और तुझको अन्दर की शाश्वत शान्ति कैसे प्राप्त हो – यह एक ही बात है। बाकी सब तो इसलोक में और परलोक में हैरान-हैरान दुःखी है। करोड़पति दुःखी और अरबपति दुःखी; राजा दुःखी और रंक भी दुःखी; ये सब दुःख की घाणी में पिल रहे हैं। अहाहा....! वस्तु स्वयं भगवान आत्मा आनन्द का नाथ है परन्तु उसकी खबर बिना सभी पुण्य-पाप और मिथ्याभाव की लहर में पड़े हैं, इसलिए दुःखी ही हैं। बाहर में भले ही ठीक हैं – ऐसा दिखता है परन्तु अन्दर में तो होली जलती है। यहाँ तो कहते हैं कि जिसको अन्तर में भान हुआ है कि 'मैं चैतन्यदेव हूँ' उस पुरुष को परलोक का भय नहीं है तो फिर भगवान को परलोक का भय कैसे हो सकता है ?

भगवान को अरक्षाभय नहीं है। (जहाँ शाश्वत चैतन्यवस्तु त्रिकाली आत्मा अविनश्वर सत् स्वयमेव अपने में सुरक्षित-स्वरक्षित है, वहाँ अरक्षण क्या? इसलिए पूर्ण शाश्वतदशा को प्राप्त भगवान केवली को अरक्षाभय नहीं होता)।

भगवान को अगुप्तिभय नहीं है। गढ़ आदि में छुप जाऊँ, जिससे अगुप्ति टले – ऐसा भय भगवान को नहीं होता। अहा! सर्वज्ञपरमात्मा तो अनन्त-आनन्द के स्वरूपगढ़ में ही गुप्त रहते हैं, वहाँ किसी का प्रवेश ही नहीं है तो किसका भय?

भगवान को मरण का भय भी नहीं है। कार्माणशरीर रहे और औदारिकशरीर छूटे, उसको मरण कहते हैं परन्तु भगवान को तो औदारिकदेह छूटने के साथ ही कार्माणशरीर छूट जाता है; अतः उनको मरण ही नहीं है और इसलिए मरणभय भी नहीं है।

भगवान को वेदनाभय नहीं है। जहाँ पूर्ण आनन्द का वेदन है, वहाँ अन्य वेदना – शरीर की वेदना कहाँ है कि वेदनाभय होवे?

अरे! परमेश्वर-परमात्मा किसको कहते हैं – इसका भी अज्ञानियों को पता नहीं है। जिसको निजपरमात्मस्वरूप का पता है, उसको बराबर पता होता है कि अन्य परमेश्वर कैसे होते हैं; और जिसको अन्य परमेश्वर का पता नहीं है, उसको अपने परमेश्वर का पता भी नहीं है। वह तो जहाँ-तहाँ बाहर के देवी-देवता को मानता है और सिर फोड़ता है। भाई! स्वयं देव कैसा है और बाहर में कैसे देव की श्रद्धा होनी चाहिए? – उसकी यह बात है।

अहो...! भगवान का शरीर तो परमौदारिक हो गया है। अन्य जीव उनके शरीर पर नजर करे तो उसके सात भव दिखें – ऐसे तो शरीर के रजकण निर्मल-स्वच्छ हो जाते हैं। अब ऐसे शरीर में वेदना हो – क्या यह बात वीतरागमार्ग में होती है बापा ? नहीं होती। यह तो वीतराग परमेश्वर का मार्ग है प्रभु! अहा! आत्मा स्वयं ही सच्चिदानन्दप्रभु है; उसका अन्तर में भान और लीनता होकर, जिनको पूर्ण आनन्द की प्राप्ति हुई है, उन्हें वेदना तथा वेदनाभय है ही नहीं।

भगवान को अकस्मात् भय अर्थात् नया कुछ हो जायेगा – ऐसा भय नहीं है। दीवाल गिर जायेगी, बिजली गिर जायेगी – ऐसा भय, परमात्मा को नहीं होता। अहा! जहाँ सम्यग्दृष्टि को भी ऐसा भय नहीं है, वहाँ केवली को भय कैसा? तथा उनको अकस्मात् और आकस्मिक क्या? भगवान को केवलज्ञान में तीन काल-तीन लोक युगपत् प्रत्यक्ष भासित होते हैं, वहाँ उनको नया-आकस्मिक क्या होगा? कुछ भी नहीं; इसलिए भगवान को विस्मय या अकस्मात् भय नहीं होता।

इस प्रकार देव को सात प्रकार के भय नहीं होते।

'क्रोधी पुरुष का तीव्र परिणाम, वह रोष है।'

जो क्रोधावेश में आ जाए, उसको रोष होता है न? परन्तु भगवान को वह नहीं होता। राक्षस को मारने के लिए धनुष चढ़ावे और

भृकुटि चढ़ावे, वह भगवान नहीं होता। अहा! जो पूर्णानन्द के शीतलस्वभाव में परमशान्त वीतराग होकर स्थित हैं, उनको रोष नहीं होता और रोष हो, वह भगवान नहीं होता।

'राग प्रशस्त और अप्रशस्त होता है; दान, शील, उपवास तथा गुरुजनों की वैयावृत्य आदि में उत्पन्न होनेवाला, वह प्रशस्तराग है और स्त्रीसम्बन्धी, राजासम्बन्धी, चोरसम्बन्धी तथा भोजनसम्बन्धी विकथा कहने तथा सुनने के कौतूहल परिणाम, वह अप्रशस्तराग है।'

देखो, राग के दो प्रकार कहे हैं – १. प्रशस्त तथा २. अप्रशस्त; अर्थात् शुभ और अशुभ; और ये भगवान केवली के नहीं होते। अब इसमें विशेष न्याय कहते हैं।

दूसरों को दान देते है न! तो शुभराग होता है; शील, ब्रह्मचर्य पालन करे और उपवास करे, उसमें शुभराग होता है। देखो, यहाँ उपवास को शुभराग कहा है तथा गुरुजनों की–अपने गुरु अथवा सन्त–महामुनिवरों की वैयावृत्य में शुभराग है, वह धर्म नहीं है – ऐसा कहते हैं।

अहा! दान, शील, उपवास और गुरुजनों की सेवा – यह प्रशस्तराग–शुभराग है और यह राग, केवली परमात्मा–तीर्थंकरदेव के नहीं होता अर्थात् केवली अन्य की स्तुति करे या विनय–वन्दना करे – ऐसा नहीं होता क्योंकि भगवान को ऐसा राग नहीं होता। अहा! केवली भगवान, छद्मस्थ गुरु की स्तुति–विनय करे – ऐसा कभी नहीं होता क्योंकि केवली को प्रशस्तराग नहीं है तथा सेवा तो अपने से बड़े की होती है परन्तु भगवान से बड़ा कौन है ?

प्रश्न : – जो इनसे पूर्व केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं, वे बड़े हैं या नहीं ?

समाधान : – नहीं, वे बड़े नहीं हैं। केवली को अन्य केवली के प्रति राग नहीं होता। यह बात इसके बाद (छठवें बोल में) आयेगी। अभी तो गुरुजनों की वैयावृत्य से उत्पन्न होनेवाला प्रशस्तराग केवली के नहीं होता – यह सिद्ध करना है। अहा! जब केवली को केवली के प्रति राग नहीं होता, वहाँ छद्मस्थ के प्रति राग-विनय हो – ऐसा कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता, क्योंकि केवली के-देव के-प्रशस्तराग नहीं होता – ऐसा मार्ग है बापा! इसमें दो बातें हुईं –

१. कोई दान, शील, उपवास अथवा गुरु की सेवा को धर्म मानें तो भी वह धर्म नहीं है, मात्र शुभराग-प्रशस्तराग है।

२. ऐसा प्रशस्तराग, भगवान केवली के नहीं होता।

अब आगे कहते हैं कि स्त्री, राजा, चोर और भोजनसम्बन्धी विकथा कहने तथा सुनने के कौतूहल परिणाम, वह अप्रशस्तराग है।

देखो, यहाँ देशकथा को राजसम्बन्धी कथा में समाहित कर दिया है। अहा! भोजन में ऐसी वस्तुएँ थीं – यह कहने और सुनने का कौतूहलभाव अप्रशस्तराग है-अशुभराग है-पाप का भाव है। फुरसत में हो तो कथा करता है कि आज भोजन में यह था और वह था.... परन्तु इसमें लाभ क्या है? धूल भी लाभ नहीं है, सुन न! यह तो विकथा-पापकथा है, अप्रशस्तराग है और वह भगवान केवली के नहीं होता – ऐसी बात है।

अहा! स्त्रीसम्बन्धी, राजासम्बन्धी, चोरसम्बन्धी और भोजन -सम्बन्धी विकथा कहने का अथवा सुनने का कौतूहलपरिणाम, अप्रशस्तराग अर्थात् पाप का भाव है और वह केवली परमेश्वर के नहीं होता। बहुत अपूर्व धर्म है बापू! यह जगत को हाथ में नहीं आया; इसलिए बाड़ा (सम्प्रदाय) बाँधकर बैठा है।

श्रीमद् में आता है न –

'अनंतकाल से भटक रहा बिना भान भगवान।
सेये नहीं गुरु चरण को छोड़ा नहीं अभिमान॥'

अब छठवाँ बोल थोड़ा सूक्ष्म है –

'चार प्रकार के श्रमणसंघ के प्रति वात्सल्य सम्बन्धी मोह, वह प्रशस्त है और उससे अतिरिक्त मोह अप्रशस्त ही है।'

ये चार प्रकार के श्रमण इस प्रकार है – १. ऋषि, २. मुनि, ३. यति और ४. अनगार।'

अहाहा....! यह **ऋषि** अर्थात् सच्चे जैन श्रमण की बात है क्योंकि उनके अतिरिक्त अन्य कोई ऋषि नहीं होता। अहाहा...! जैन के ऋषि अर्थात्? जिन्होंने, आत्मा आनन्दस्वरूप है – ऐसे भानपूर्वक उसमें लीन-प्रलीन होकर, राग को जीतकर उग्ररूप से अन्तर में आनन्द प्रगट किया है, वे जैनसाधु-ऋषि हैं। अहा! जैन कोई सम्प्रदाय नहीं, अपितु वस्तु का स्वभाव है। उस स्वभाव की उग्र आराधना में स्थित जैन के सच्चे सन्त ही ऋषि हैं। शास्त्र में ऋषि के बहुत भेद हैं। यहाँ तो इतना ही लिया है कि 'ऋद्धिवाले श्रमण, ऋषि हैं।' अहा! उनके प्रति वात्सल्य सम्बन्धी मोह, वह प्रशस्तराग है और वह भगवान को नहीं होता।

अब दूसरा प्रकार – **मुनि :**– 'अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अथवा केवलज्ञानवाले श्रमण, वे मुनि हैं।' लो! इन केवलियों के प्रति अथवा मुनियों के प्रति वात्सल्य-प्रेम, वह मोह है – ऐसा कहते हैं और वह भगवान केवली के नहीं होता - ऐसी बात है। देखो, केवली को अन्य केवली के प्रति मोह नहीं होता - ऐसा इसमें आया या नहीं ? तो फिर केवली को अन्य छद्मस्थ के प्रति प्रेम-वात्सल्य-विनय हो – ये कैसे हो सकता है? ऐसा होता ही नहीं। भाई! तीन काल-तीन लोक में वीतरागमार्ग का कथित तत्त्व

यह है। क्या? कि चार प्रकार के श्रमणसंघ के प्रति वात्सल्य, वह मोह है और वह भगवान केवली के नहीं होता। (यह चतुर्विध संघ कैसे निभे – ऐसा राग भगवान को नहीं होता।)

अहा! जहाँ केवली को केवली के प्रति अथवा छद्मस्थ साधु के प्रति मोह ही नहीं है, वहाँ क्या उनका विनय करेंगे? नहीं करेंगे? हाँ, साधु को भगवान केवली के प्रति राग-विनय होता है क्योंकि साधु को किंचित् राग का भाव है न! परन्तु वैसा राग केवली को नहीं होता अर्थात् क्योंकि भगवान परमवीतराग हैं। भाई! देव-गुरु के प्रति प्रेम-भक्ति-वात्सल्य, वह कोई धर्म नहीं है, अपितु शुभराग है और वह पुण्यबन्ध का कारण है – ऐसा वीतराग का मार्ग है।

प्रश्न : – प्रशस्तराग और मोह में क्या अन्तर है ?

समाधान : – यह तो वह का वह है। 'श्रमणसंघ के प्रति वात्सल्य सम्बन्धी मोह' – ऐसा है न? यहाँ मोह शब्द से परसन्मुख सावधानी जाती है, इतना कहना है।

अब तीसरा प्रकार – **यति :**– 'उपशमक अथवा क्षपकश्रेणी में आरुढ़ श्रमण, वह यति है।' अहा! जो श्रमण, आत्मा की साधना में चढ़े हैं, वे यति हैं और उनके प्रति प्रेम-वात्सल्य, वह मोह है। अब ये यति भी अन्य के प्रति प्रेम नहीं करते; वे श्रेणी में आरुढ़ हैं न! अन्दर ध्यान में हैं, आत्मा की स्थिरता में रमते हैं; इसलिए उनको अन्य के प्रति प्रेम नहीं है, तब फिर केवली को अन्य के प्रति प्रेम कैसा है ? अहा....! एक-एक बात में अन्य कितनी बातें भर दी हैं।

अब चौथा प्रकार – **अनगार :**– 'और सामान्य साधु वे अनगार हैं।'

प्रश्न :– सामान्य साधु अर्थात्?

समाधान :– जो छठवें-सातवें गुणस्थान में विराजामान हैं और

जिनको कोई ऋद्धि प्रगट नहीं है; जो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान से रहित हैं तथा उपशमक हैं या क्षपकश्रेणी से रहित हैं, वे सामान्य साधु हैं – ऐसा अर्थ है परन्तु यह अर्थ नहीं है कि सामान्य साधु अर्थात् जैन के अतिरिक्त ये सब (अन्य) साधु तथा जैन के नाम से वेश धारण करके बैठे हैं, वे भी नहीं।

इस प्रकार श्रमण के चार भेद किए –

१. ऋषि :– ऋद्धिसहित श्रमण, ऋषि है।

२. मुनि :– अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानसहित श्रमण, मुनि है।

३. यति :– उपशमक या क्षपकश्रेणी में आरुढ़ श्रमण, यति हैं।

४. अनगार :– उपर्युक्त तीनों के अतिरिक्त, अर्थात् ऋद्धिरहित, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानरहित तथा श्रेणीरहित श्रमण, सामान्य साधु–अनगार हैं। वे पाँचवें गुणस्थान से ऊपर और आठवें गुणस्थान से नीचे छठवे–सातवें गुणस्थान में विराजमान होते हैं।

इन चारों प्रकार के श्रमणों के प्रति वात्सल्य सम्बन्धी मोह प्रशस्त है और वह भगवान केवली परमात्मा के नहीं होता तथा इनके अतिरिक्त अन्य के प्रति मोह अप्रशस्त अर्थात् अशुभ ही है। कुटुम्ब–परिवार, धन–सम्पत्ति के प्रति मोह–राग अशुभ है; और वह भी भगवान को नहीं होता। अरे भाई! चार प्रकार के साधुओं के प्रति वात्सल्य भी शुभराग है, शान्ति को जलानेवाली आग है तो फिर अशुभ का तो कहना ही क्या? छहढाला में आता है न कि **राग आग दहे सदा।**

अहा! मुनिवरों को प्रेम से–भक्ति से–वात्सल्य से आहार–पानी देना भी राग–मोह, और भगवान को वह नहीं होता। भगवान किसको

आहार दे और कौन ले ? भाई ! अनन्त... अनन्त... आनन्द..... आनन्द... किसको कहते हैं ? अरे ! धर्म किसको कहना ? – यह भी लोगों को पता नहीं है; वे तो बाहर में मान बैठे हैं कि यह भक्ति की और यह भगवान की पूजा की, अतः बस हो गया धर्म.... परन्तु इसमें धूल में भी धर्म नहीं हैं। सुन तो सही ! तू लाख भक्ति कर.... परन्तु यह सब तो शुभराग है और ऐसा प्रशस्त या अप्रशस्त मोह केवली के नहीं होता। उनको चतुर्विध श्रमणसंघ के प्रति भी राग नहीं होता।

प्रश्न :– तो भगवान उपदेश किसलिए देते हैं ?

समाधान :– उपदेश ? कौन उपदेश देता है ? उपदेश तो वाणी है और वाणी, वाणी के कारण उसके स्वकाल में निकलती है। वह वाणी भगवान में कहाँ है ? ('भगवान की वाणी' यह तो व्यवहार का कथन है।)

'धर्मरूप तथा शुक्लरूप चिन्तन (चिन्ता-विचार प्रशस्त है और उसके अतिरिक्त (आर्त्तरूप तथा रौद्ररूप चिन्तन) अप्रशस्त ही है।'

देखो, क्या कहा ? कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त है और वह भगवान को नहीं है।

प्रश्न :– केवलज्ञानी के शुक्लध्यान तो कहा है न ?

समाधान :– वह तो उपचार से कहा है; क्योंकि कर्म खिरते हैं न ! इसलिए इतनी अपेक्षा गिनकर कहा है तथा केवली के कषायों का तो सम्पूर्णतः अभाव हो गया है; परन्तु अभी योग साथ में रहा है न ! इसलिए इस अपेक्षा को गिनकर कहा है कि शुक्लध्यान है, वरना उनको शुक्लध्यान है कब ? देखो, केवली को शुक्लध्यान नहीं है – ऐसा इसमें कहते हैं। प्रवचनसार में भी ऐसा आया है कि केवलज्ञानी

किसका ध्यान करते हैं ? वहाँ समाधान किया कि आनन्द का ध्यान धरते हैं, अर्थात् वे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं; वरना वहाँ भगवान को ध्यान कहाँ है ? वे तो धारावाही अनन्त आनन्दरूप से ही परिणमते हैं। एकाग्रता तो अन्दर पूर्ण पड़ी ही है, नयी एकाग्रता कहाँ करना है ? अहो! परमेश्वर शरीर में रहे हुए दिखने पर भी, उनके वाणी निकलती है – ऐसा दिखने पर भी, वे समवसरण में विराजमान हैं – ऐसा दिखने पर भी, वे तो अनन्त आनन्द में ही स्थित हैं–विराजमान हैं। अहा! यहाँ कहते हैं – ऐसे भगवान को धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान नहीं होता। ऐसा मार्ग बहुत सूक्ष्म है बापू!

इनके अतिरिक्त आर्त–रौद्ररूप अप्रशस्त–खोटे चिन्तन–ध्यान हैं, वे भी भगवान को नहीं होते।

तिर्यंचों तथा मनुष्यों को वयकृत देहविकार (आयु के कारण होनेवाली शरीर की जीर्णदशा), वही जरा है।

देखो, पशुओं और मनुष्यों को, जो वयकृत शरीर का विकार –वृद्धावस्था होती है; वह भगवान को नहीं होती। नारकी को सदा वृद्धावस्था होती है और देव को वह कभी नहीं होती; अतः यहाँ उनकी बात नहीं ली है परन्तु मनुष्यों और पशुओं को वयकृत जीर्णावस्था होती है, इसलिए उनकी बात की है। देहविकार अर्थात् क्या ? कि ये बाल सफेद होते हैं, शरीर में झुर्रियाँ पड़ती हैं और शरीर जीर्ण होता है, (यह देहविकार है)। अहा! ऐसी जरा–अवस्था भगवान के नहीं होती। कोटिपूर्व वर्ष तक देह की स्थिति रहने पर भी भगवान के जरा अवस्था नहीं होती। कैसे होगी ? क्योंकि असाता का उदय कहाँ है ? अहो! पूर्णानन्द को प्राप्त भगवान को पूर्ण शान्ति....शान्ति.....शान्ति है और देह भी जरारहित ही है। अहो! अरबों–अरबों वर्षों तक केवलज्ञानपने रहने पर भी, शरीर में जरा

नहीं होती। अहा.... ! वे रोटी खाते नहीं और जरा होती नहीं। (ऐसी कोई दिव्य अलौकिक देह भगवान को होती है।)

वात्त, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न होनेवाली कलेवर (शरीर) सम्बन्धी पीड़ा, वही रोग है।

अहा! गौशाला ने तेजोलेश्या फैंकी और उससे भगवान को छह माह तक रोग रहा – यह सब खोटी-कल्पित बातें हैं, एकदम गप्प है क्योंकि भगवान को यह सब होता ही नहीं। अहा! जहाँ अन्दर में अनन्त-आनन्द की निरोगता प्रगट हुई है, वहाँ देह में रोग कैसा? अहो! भगवान को तो परमौदारिक अत्यन्त स्वच्छ निर्मल स्फटिक के समान दिव्यदेह होती है; इसलिए ऐसे शरीर में रोग हो ही नहीं सकता है।

अब जिसको सच्चेदेव के स्वरूप की श्रद्धा का ही पता न हो, उसको अपने आत्मा के स्वरूप का क्या पता होगा? वह तो प्रगट अज्ञानी है। देखो, यह भेदरूप समकित की व्याख्या है न? इसलिए जिसको अन्तर में अभेद समकित है, उसको सच्चेदेव सम्बन्धी यथार्थ श्रद्धा होती है और वह भेद समकित है – ऐसा कहते हैं।

सादि-सनिधन, मूर्त इन्द्रियोंवाले, विजातीय नर-नारकादि विभाव-व्यंजनपर्याय का जो विनाश, उसी को मृत्यु कहा गया है।

'सादि-सनिधन' अर्थात् जो नया उत्पन्न हुआ है और जिसका अन्त है – ऐसी मूर्त इन्द्रियोंवाली और आत्मा से विरुद्ध जातिवाली नर-नारकादि विभाव-व्यंजनपर्याय-शरीर पर्याय, उसके विनाश को मृत्यु कहा जाता है और वह भगवान को नहीं है। कार्माणशरीर को साथ लेकर जाने की और औदारिकशरीर के नष्ट होने को मृत्यु कहते हैं; परन्तु भगवान को तो औदारिकशरीर के साथ ही कार्माणशरीर भी

नाश को प्राप्त होता है; अतः उनको मृत्यु है ही नहीं। देह छूटने पर पुनः जन्म होने को मृत्यु कहते हैं परन्तु वह भगवान को कहाँ है? इसलिए भगवान को मृत्यु नहीं है।

अशुभ कर्म के विपाक से जनित, शारीरिक श्रम से उत्पन्न होनेवाला, जो दुर्गन्ध के सम्बन्ध के कारण बुरी गन्धवाले जल बिन्दुओं का समूह, वह स्वेद है।

अहो! श्वांस गन्ध मारे और श्रम से पसीना होकर गन्ध मारे, वह असाता के उदय के कारण होता है; परन्तु वह पसीना भगवान को नहीं होता, क्योंकि भगवान को उस असाता का उदय नहीं है। अहो! भगवान तो अनन्त-अनन्त आनन्द और अनन्त बल में विराजमान हैं; उनको पसीना कैसा?

देखो, यहाँ अरहन्तदेव के स्वरूप का कथन चल रहा है। जिसको निज आत्मा का श्रद्धान-सम्यग्दर्शन होता है, उसको व्यवहार से ऐसे निर्दोषदेव की ही मान्यता होती है – ऐसा यहाँ कहना है। अहाहा...! भगवान आत्मा निर्मलानन्द-ज्ञानानन्दप्रभु है। उसका अन्तर में ज्ञान होकर प्रतीति होना-श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है और तभी जीव सुख के पन्थ में आरुढ़ होता है परन्तु जहाँ तक पर्याय/अवस्था और शुभाशुभ रागादि पर दृष्टि है, वहाँ तक पर्यायबुद्धिवाला वह जीव दुःखी है। इसीलिए कहते हैं – भाई! **'सर्वम् त्यज एकम् भज।'** क्या कहा? **'सर्वम् त्यज'** अर्थात् निजशुद्धात्मा के अतिरिक्त सभी दृष्टि में से छोड़ दे और **'एकम् भज'** अर्थात् अनन्त-आनन्दस्वरूप एक निजशुद्धात्मा को भज। भज अर्थात् वहाँ एकाग्र हो। (अपने में एकाग्र होना ही भजन है।) कहते हैं न! पर से खस, स्व में बस, बस! यह टूंकु ने टच। लो, यह सुखी होने का उपाय है।

....परन्तु अरे! इसको राग की–जड़ की मिठास है परन्तु भाई! यह तो तुझको जहर की मिठास (रुचि) है बापू! तू अनादि से वहाँ रुका है और अमृत मानकर जहर ही पिया है।

प्रश्न :– परन्तु अमृत मानकर पीता है न?

समाधान :– उसे तो अमृत मानकर ही पियेगा न? कोई जहर मानकर पीता होग? परन्तु वह जहर ही है, अमृत नहीं। अहा! यह तो नियमसार है न! अहा! अमृत का / मोक्ष का मार्ग, वह नियमसार है। अहो! आत्मा अमृतस्वरूप सुखकन्द–आनन्दकन्द प्रभु है तो उस निजवस्तु की अन्तर में दृष्टि करके दिशा बदल दे; तेरी दृष्टि की दिशा राग और पर्याय पर है, उसे बदल दे और निजस्वरूप की दृष्टि कर। संसार अर्थात् उदयभाव के अभाव की यही विधि है। इसी का नाम 'पर से खस और स्व में बस' अथवा 'स्व को भज पर को तज' कहते हैं। भाई! ये शब्द तो थोड़े हैं; परन्तु इनका भाव गम्भीर है।

अनिष्ट की प्राप्ति (अर्थात् कोई वस्तु अनिष्ट लगना) वह खेद है।

अहा! जगत् में कोई अनिष्ट ही नहीं है (और परमवीतराग सर्वज्ञपरमेश्वर को कोई अनिष्ट भासित भी नहीं होता।) इसलिए भगवान को खेद नहीं होता। रोग होना, शत्रु होना, सर्प अथवा बिच्छू काट खाना इत्यादि को अज्ञानी जीव अनिष्ट मानता है परन्तु भगवान केवली को तो लोक में कोई अनिष्ट ही नहीं है और इसलिए खेद भी नहीं है।

सर्व जनता के (जनसमाज के) कानों में अमृत उड़लनेवाले सहज चतुर कवित्व के कारण, सहज (सुन्दर) शरीर के कारण, सहज (उत्तम) कुल के कारण, सहज बल के कारण तथा

सहज ऐश्वर्य के कारण आत्मा में जो अहंकार की उत्पत्ति, वह मद है।

अहा! भगवान की दिव्यवाणी और कवित्वशक्ति का क्या कहना! उनकी ऐसी सहज चतुर कवित्वशक्ति होती है कि लाखों-करोड़ों जीवों की सभा उसे सुनकर मानों अमृत पीती हो, इस तरह सभी डोल-नाच उठते हैं। अहा...! भगवान तो सर्व विद्याओं के पारगामी होते हैं; परन्तु उनको ऐसी कवित्वशक्ति का अभिमान नहीं होता। भगवान मदरहित ही होते हैं। इसी तरह सहज (सुन्दर) शरीर के कारण.....आत्मा में जो अहंकार की उत्पत्ति, वह मद है।

अहो! भगवान के शरीर का प्रत्येक अवयव कोमल, सुन्दर, नरम होता है। तीन लोक में किसी को न हो – ऐसी सुन्दर दिव्यदेह भगवान (तीर्थंकर) के होती है। उसको देखकर इन्द्र भी चकित हो जाता है। उनके जन्मकाल में दो आँखों से देखकर सन्तोष न होने से इन्द्र हजार नेत्र करके देखता है। अहा! भगवान की देह का रूप ऐसा अद्भुत-अलौकिक होता है, तथापि भगवान को शरीर का मद नहीं होता। क्यों? क्योंकि शरीर कहाँ उनका अपना है? वह जड़ -मिट्टी-धूल का है। अहा! भगवान तो जन्म से ही सम्यग्दर्शन और तीन ज्ञान लेकर जन्मते हैं और यह शरीर मुझे है – ऐसा मद तो पहले से ही, अर्थात् समकित हुआ, तब से ही नहीं है तो फिर पूर्णदशा होने पर, यह सुन्दर शरीर मैं हूँ – ऐसा मद कैसे होगा ?

अज्ञानी तो जहाँ शरीर किञ्चित् सुन्दर हो वहाँ अभिमान करता है और शरीर सुन्दर-रूपवान न हो तो पाउडर आदि लगाकर सुन्दर दिखना चाहता है परन्तु वह तो मुर्दे को शृंगारता है बापू! अहा! यह शरीर तो माँस-हड्डी-चमड़े की थैली से युक्त मुर्दा है, इसमें कहाँ आत्मा है?

प्रश्न :– परन्तु इसका श्रृंगार करने पर तो यह सुन्दर लगता है न?

समाधान :– भाई! यह तो सब चुडैल का शरीर है बापा! इस जड़ का क्या श्रृंगार और क्या अभिमान ?

यहाँ कहते हैं – भगवान के सहज सुन्दर शरीर होने पर भी मद नहीं होता। अब समकिती को भी शरीरमद नहीं होता तो सर्वज्ञ भगवान को कैसे होगा? होता ही नहीं। 'सहज (उत्तम) कुल के कारण आत्मा में अहंकार की उत्पत्ति, वह मद है।'

भगवान का जन्म स्वाभाविक ही उत्तमकुल में होता है, तो भी उनको उसका अभिमान नहीं होता कि मेरे पिता ऐसे राजा थे और मैं उनका पुत्र हूँ। हमारा अवतार श्रीमन्त लक्ष्मीवन्त के गृह में है – इस प्रकार कुल का–धूल का अभिमान भगवान को नहीं होता। अरे! जब सम्यग्दृष्टि को कुलमद नहीं होता, तो फिर भगवान को तो कैसे होगा? नहीं होगा। कारण कि आत्मा को कुल कैसा? भगवान आत्मा तो निर्लेप, निराला, चिदानन्दप्रभु है। उसमें जब राग भी नहीं है, तो फिर शरीर और कुल कैसा? इसलिए केवली भगवान को कुल का अभिमान नहीं होता।

'सहजबल के कारण.....आत्मा में अहंकार की उत्पत्ति, वह मद है।'

भगवान को स्वाभाविक इतना अधिक बल होता है कि वैसा अन्य को नहीं होता। भगवान (तीर्थंकर) को अतुल–अपार बल होता है, शरीर का बल; तो भी उनको उसका अहंकार–मद नहीं होता।

'सहज ऐश्वर्य के कारण.....आत्मा में अहंकार की उत्पत्ति वह मद है।'

अहा! महान चक्रवर्ती का पद, बलदेव का पद अथवा महान ईश्वरता का पद प्राप्त हुआ हो, तो भी भगवान को उसका अभिमान नहीं होता। अज्ञानी तो किसी संस्था का मन्त्री या प्रमुख हो तो वहाँ अहंकार में चढ़ जाता है, जबकि भगवान तीन लोक के ईश्वर –स्वामी होने पर भी, उनको ऐश्वर्यमद नहीं होता। गजब बात है न!

मनोज्ञ (मनपसंद) वस्तुओं में परमप्रीति, वही रति है।

परन्तु भगवान को कोई मनोज्ञ है ही नहीं; और इस कारण रति भी नहीं है।

परम समरसीभाव की भावनारहित जीवों को (परम समताभाव के अनुभव रहित जीवों को) कभी पूर्व काल में न देखा हुआ, देखने के कारण होनेवाला भाव, वह विस्मय है।

अहाहा....! भगवान आत्मा समतारस का पिण्ड परम –वीतरागीस्वभाव का रसकन्द है। अहा! ऐसे निज–आत्मस्वरूप की भावना से रहित अज्ञानी जीवों को 'यह क्या ? यह क्या ?' – ऐसा विस्मयभाव हुआ करता है। कुछ नया देखने पर उनको विस्मय होता है परन्तु सर्वज्ञभगवान को नया क्या है ? नहीं देखा हुआ क्या है? कुछ है ही नहीं; इसलिए परमसमरसीभाव से भरपूर भगवान केवली को विस्मय नहीं होता।

केवल शुभकर्म से देवपर्याय में जो उत्पत्ति, केवल अशुभकर्म से नारक पर्याय में जो उत्पत्ति, माया से तिर्यञ्चपर्याय में जो उत्पत्ति और शुभाशुभ मिश्रकर्म से मनुष्यपर्याय में जो उत्पत्ति, सो जन्म है।

देखो! कर्म के निमित्त से किसी न किसी गति में उत्पन्न होना, वह जन्म है। यहाँ चार बातें ली हैं –

१. जीव, केवल पुण्यकर्म से देवपर्याय में उत्पन्न होता है।

२. केवल अशुभ पापकर्म से नारकपर्याय में उत्पन्न होता है।

३. माया से तिर्यञ्चपर्याय में उत्पन्न होता है। अहा! तिर्यञ्चपर्याय में भी जन्मने के बहुत स्थान हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी देव से अधिक हैं। बहुत से देव, नारकी, मनुष्य और स्वयं पशु भी मरकर वहाँ-तिर्यञ्च में जन्मते हैं।

४. कुछ पुण्य और कुछ पाप – ऐसे मिश्रकर्म के निमित्त से मनुष्यपर्याय में जन्म होता है।

अहा! चौरासी का जन्मसमुद्र अपार-अगाध है। यहाँ कहते हैं कि सर्व कर्म से रहित परमपद को-अरहन्तपद को प्राप्त भगवान को जन्म नहीं होता।

दर्शनावरणीय कर्म के उदय से, जिसमें ज्ञानज्योति अस्त हो जाती है; वही निद्रा है।

देखो, निद्रा में ज्ञानज्योति अस्त हो जाती है परन्तु भगवान को निरन्तर ज्ञानज्योति प्रगट ही है क्योंकि भगवान के दर्शनावरणीय कर्म का सर्वथा अभाव है। इस कारण भगवान के निद्रा नहीं होती।

इष्ट के वियोग से विक्लवभाव (घबराहट) ही उद्वेग है। इन (अठारह) महादोषों से तीन लोक व्याप्त है। वीतराग सर्वज्ञ इन दोषों से विमुक्त है।

अहा! भगवान को लोक में कोई इष्ट नहीं है, इसलिए उसके वियोग में उद्वेग नहीं होता। अहा! समकिती जीव ऐसे अठारह दोषों से रहित देव को ही देव मानता है, इनके अतिरिक्त वह अन्य को कभी देव नहीं मानता। अन्य को देव माननेवाला तो प्रगट मिथ्यादृष्टि ही है। यह कोई पक्ष नहीं है, वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। जहाँ पूर्ण आनन्द की प्राप्ति हुई, वहाँ फिर ये कोई दोष नहीं रहते।

अब थोड़ा विशेष स्पष्टीकरण करते हैं –

'वीतराग सर्वज्ञ को द्रव्य-भाव घातिकर्मों का अभाव होने से.....चार घातिकर्म है न! ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय। इन चार द्रव्यकर्मों का और इनके भावकर्म का अभाव होने से वीतराग सर्वज्ञ को......**'भय, रोष, राग, मोह, शुभाशुभ चिन्ता, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा तथा उद्वेग कहाँ से होंगे ?'** जिन्होंने चार घातिकर्मों का अभाव किया है, उनको ऐसे ग्यारह दोष नहीं होते – ऐसा कहते हैं। इस प्रकार ग्यारह दोष कहे।

अब, दो मुख्य दोष क्षुधा और तृषा का जरा विस्तार से स्पष्टीकरण करते हैं –

और उनको समुद्र जितने सातावेदनीय कर्मोदय के मध्य बिन्दु जितना असातावेदनीय कर्मोदय वर्तता है वह, मोहनीय कर्म के बिलकुल अभाव में, लेशमात्र भी क्षुधा या तृषा का निमित्त कहाँ से होगा ? नहीं होगा......

देखो ? भगवान को महासमुद्र जितना साता का उदय है और किञ्चित् बिन्दुमात्र-नहींवत् असाता का उदय होता है तथा उनको मोहनीयकर्म का अत्यन्त अभाव है; इसलिए किञ्चित् असाता का उदय क्षुधा या तृषा का निमित्त नहीं होता। अहा! जहाँ मोह नहीं है, वहाँ दुःख कहाँ है। मोहनीय के अभाव में दुःख की वृत्ति हो ही नहीं सकती। वही कहते हैं –

क्योंकि चाहे जितना असातावेदनीय कर्म हो, तथापि मोहनीयकर्म के अभाव में दुःख की वृत्ति नहीं हो सकती, तो फिर यहाँ तो जहाँ अनन्तगुने सातावेदनीय कर्म के मध्य अल्पमात्र (अविद्यमान जैसा) असातावेदनीयकर्म वर्तता है, वहाँ क्षुधा

-तृषा की वृत्ति कहाँ से होगी? क्षुधा-तृषा के सद्भाव में अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि कहाँ से सम्भव होंगे? इस प्रकार वीतराग सर्वज्ञ को क्षुधा (तथा तृषा) न होने से उन्हें कवलाहार भी नहीं होता।

भगवान कवलाहार करें – ऐसा नहीं होता। भगवान को असातावेदनीय है; इसलिए रोग हुआ और दवा ली तथा भगवान को कवलाहार होता है – ये सब अत्यन्त विपरीत कल्पित और झूठी बातें हैं परन्तु जो जिस सम्प्रदाय में हो, उसको उस सम्प्रदाय की बात ऐसी बैठ जाती है कि उसमें से निकलना अत्यन्त कठिन पड़ता है।

अहा! तीन लोक के नाथ भगवान केवली को अमृत का-आनन्द का भोजन होता है। उनको क्षुधा-तृषा कैसी? अहा! (उनको) एक समय की दशा में कितना आनन्द! जिसकी उपमा लोक में नहीं है – ऐसा अनन्त....अनन्त.....अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द होता है। बापू! यह इन्द्र की, बड़े सेठ की अथवा राजा की सम्पत्ति-धूल में माना हुआ आनन्द तो जहर है। उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द की क्या तुलना? अहा! आत्मा के ऐसे अनुपम आनन्द के आस्वादी स्वरूपानन्दी भगवान को क्षुधा-तृषा नहीं होती। अरे! समकिती को भी यद्यपि कमजोरी है; इस कारण क्षुधा-तृषा की वृत्ति उठती है तो भी स्वरूपानन्द के कारण उसका स्वामी नहीं होता, आनन्द के स्वामीपने वर्तता है..... तो फिर जिनको पूर्ण आनन्द का भोजन है, उन भगवान को भूख-प्यास कैसी? भाई! वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है और उसका फल भी अलौकिक है। भगवान तू महान, तुझे पाने का मार्ग महान और उसका फल भी महान है!

अहा! आनन्दमूर्ति प्रभु आत्मा और वेदनामूर्ति – ऐसा जड़ शरीर, इन दोनों की पृथक्ता-भिन्नता का जिसको भान नहीं है, वह

अज्ञानी जीव क्षुधा–तृषा के राग से पीड़ित होता है; परन्तु भगवान को वैसा कुछ भी नहीं होता और इसलिए उनको कवलाहार भी नहीं होता।

यदि केवली को आहार नहीं होता तो उनका शरीर लाखों–करोड़ों वर्षों तक कैसे टिकता है ?

तो कहते हैं – '**कवलाहार के बिना भी उनके (अन्य मनुष्यों को असंभवित ऐसे) सुगन्धित, सुरसयुक्त, सप्तधातुरहित परमौदारिक शरीररूप नोकर्माहार के योग्य, सूक्ष्म पुद्गल प्रतिक्षण आते हैं और इसलिए शरीर स्थिति रहती है।**'

केवली को साता के कारण ऐसे रजकण निरन्तर आया ही करते हैं और इसलिए शरीर टिकता है – इस प्रकार तेरह बोल हुए। (तेरह दोषों के अभाव का कथन हुआ।)

अब अन्य तीन बोल – शरीर में रहने पर भी भगवान को जरा, रोग और पसीना नहीं होता – यह बात कहते हैं –

और पवित्रता तथा पुण्य का ऐसा सम्बन्ध होता है, अर्थात् घातिकर्मों का अभाव को और शेष रहे अघाति कर्मों का ऐसा सहज सम्बन्ध होता है कि वीतराग–सर्वज्ञ को उन शेष रहे अघातिकर्मों के फलस्वरूप परमौदारिक शरीर में जरा, रोग तथा स्वेद नहीं होते।

अहा! हीरा को रखने की डिब्बी भी अलग ही प्रकार की होती है, वह कहीं थैली में नहीं रहता। इसी प्रकार जहाँ अनन्तचतुष्टयमय परमात्मदशा प्रगट होती है, वहाँ उसकी डिब्बी–शरीर अलग ही जाति का हो जाता है, अर्थात् भगवान को परमौदारिक शरीर होता है; इसलिए भगवान के जरा–शरीर की जीर्णता नहीं है, राग नहीं है और पसीना भी नहीं है।

अब अन्तिम दो बोल –

और केवली भगवान को भवान्तर में उत्पत्ति के निमित्तभूत शुभाशुभभाव न होने से उन्हें जन्म नहीं होता; और जिस देहवियोग के पश्चात् भवान्तर प्राप्तिरूप जन्म नहीं होता, उस देह वियोग को मरण नहीं कहा जाता।

जिसको पुण्य-पाप के भाव हैं, उसको जन्मना पड़ता है परन्तु भगवान के तो पुण्य-पाप के भाव नष्ट हो गये हैं; इसलिए अब उनको जन्म नहीं होता और देहवियोग के बाद जन्म नहीं होवे तो उसको मरण नहीं कहते; इसलिए मरण भी नहीं है – इस प्रकार अठारह बोल पूर्ण हुए।

इस प्रकार वीतराग सर्वज्ञ अठारह दोषरहित हैं।

इसी प्रकार अन्य शास्त्रों में गाथा द्वारा कहा है कि –

वह धर्म है, जहाँ दया है; वह तप है, जहाँ विषयों का निग्रह है; वह देव है, जो अठारह दोषरहित है; इस सम्बन्ध में संशय नहीं है।

क्या कहते हैं? 'वह धर्म है जहाँ दया है,' यह दया माने? भगवान आत्मा की दशा में राग की-विकल्प की उत्पत्ति न हो – ऐसी जो अहिंसा है, वह दया है और वह धर्म है। अहा! धर्म उसको कहते हैं, जहाँ राग की उत्पत्ति नहीं है। राग की उत्पत्ति हिंसा है, अधर्म है। **अहिंसा परमोधर्मः** कहते हैं न? तो वह यह कि भगवान आत्मा के आश्रय से वीतरागीदशा की उत्पत्ति होती है, वह अहिंसा है, दया है, धर्म है।

अहा! अपनी दया, वह दया है। अपने आत्मा को रागरहित करने का नाम दया है। वरना पर की दया तो कौन पाल सकता है?

अहा! प्रिय में प्रिय स्त्री–अर्धांगिनी को रोग हो जाए तो उसको बचाने के लिए लाखों रुपये खर्च कर देता है, तो भी वह मर जाती है। स्त्री को रखने का–रक्षा करने का भाव होने पर भी रख नहीं सकता। पर की दया पालन का विकल्प उत्पन्न होता है परन्तु उसको बचा नहीं सकता। यह जो रक्षा का विकल्प हुआ और बच जाए तो उसकी दया की – ऐसा कहा जाता है; वरना पर की दया कौन पाल सकता है? यदि बचा सकता हो तो अपनी प्रिय स्त्री को मरण किसलिए आने दे।

अरे! संसार की विचित्रता तो देखो! पत्नी मर जाए तो बाहर तो नहीं कहता परन्तु अन्दर विकल्प आता है कि अब मैं ५० वर्ष में अकेला रह गया, इसके बदले दस वर्ष पूर्व मर गई होती तो दूसरी तो होती। देखो! यह पत्नी के लिए प्रेम और इसकी भावना! बापू! ये सब सगे–सम्बन्धी स्वार्थ के पुतले हैं अर्थात् कोई किसी का सम्बन्धी है ही नहीं। मेरा सगा.....मेरा सगा – ऐसा कहे परन्तु तेरा किञ्चित् भी नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि अपनी दया–स्वदया ही दया है, बाकी पर की दया का भाव आवे परन्तु पर को कोई बचा नहीं सकता तथा पर की दया का भाव राग है और इसलिए वास्तव में तो वह अपनी हिंसा है। अहा! प्रभु आत्मा आनन्दमूर्ति है, उसका लक्ष्य करके अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द की उत्पत्ति करने का नाम दया है और वह धर्म है।

वह तप है, जहाँ विषयों का निग्रह है। अहा! जहाँ पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर का झुकाव रुक गया हो, उसे तप कहते हैं। पाँच इन्द्रिय के विषय अर्थात् शुभ और अशुभ सब। लौकिक सुनना या भगवान की वाणी सुनना – यह सब इन्द्रिय का विषय है; और उसका निग्रह करके अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषयों की ओर झुकाव

से होनेवाले शुभाशुभभाव को रोककर अतीन्द्रिय निज-आत्मस्वरूप में एकाकार होने का नाम तप है। लो, यह तप! अज्ञानी तो रोटी नहीं खाये और लंघन करे और मानता है कि उपवास हुआ; परन्तु उसमें तो यदि राग मन्द हो तो मिथ्यात्वसहित पुण्य बँधता है। वह उपवास या तप नहीं है। गजब बात है बापा! यहाँ तेरा मार्ग अलग है नाथ! अहा...! जिससे अनन्त-आनन्द में रहे, वह भाव (मार्ग) तो अलौकिक ही होगा न!

परन्तु अरे! इसको कुछ विचार ही नहीं है। मेरा क्या होगा? मैं कहाँ हूँ? और कहाँ जाऊँगा? कुछ विचार ही नहीं, इसको कुछ पड़ी ही नहीं है।

श्रीमद् में आता है न –

मैं कौन हूँ, आया कहाँ से और मेरा रूप क्या।
सम्बन्ध दुःखमय कौन है स्वीकृत परिहार क्या॥

अहाहा....! यह सम्बन्ध क्या है ? तेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है भगवान! मैं तो अपने प्रयोजन को (अतीन्द्रिय आनन्द को) साधनेवाला हूँ – ऐसा विचार कर, जो पूर्णानन्दस्वरूप निजभगवान आत्मा के आश्रय में प्रवर्तता है; विषय से विरत और स्व में रमता है, उसको तप है। इसका नाम तप है।

'**इच्छा निरोधः तपः**' – ऐसी तप की व्याख्या है न! अहाहा.....! जहाँ पाँच इन्द्रियों की ओर के झुकाव की इच्छा रुक गई है और स्वस्वरूप-निज आनन्दस्वरूप में रमने से जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द की दशा प्रगट हो गई है, वहाँ तप है। अहा...! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे-भोग हो, उसको तप कहते हैं।

अब कहते हैं – 'वह देव है जो अठारह दोषरहित है।' बात तो

यही सिद्ध करनी है। अहा... ! देव उसको कहते हैं, जिसको अठारह दोष नहीं होते। 'इस विषय में संशय नहीं है।' इसमें कहीं सन्देह का स्थान नहीं है।

तथा श्री विद्यानन्दिस्वामी के श्लोक द्वारा कहा है कि –

श्लोकवार्तिक जो कि तत्त्वार्थसूत्र की टीका है, उसका यह श्लोक है। उसके रचयिता श्री विद्यानन्दिस्वामी हैं। यहाँ श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने अपनी बात के आधार के लिए उस श्लोक को दिया है।

अहा... ! पहले तो विद्यानन्दिस्वामी ब्राह्मण थे। एक बार एक नग्न मुनिवर–सन्त शास्त्र–स्वाध्याय कर रहे थे, वहाँ यह बात उनके कान में पड़ गई; उनका मन हुआ कि अहो! यह तो अलौकिक बात है! फिर गये अन्दर, देखा तो – अहो! ऐसे मुनिवर!! और स्वयं साधु हो गये। स्वयं गृहस्थ ब्राह्मण और हो गये दिगम्बर मुनि, महासमर्थ मुनिराज। उन्होंने संस्कृत में विशाल श्लोकवार्तिक रचा है। यह श्लोक उसी ग्रन्थ का है।

क्या कहते हैं? 'इष्टफल की सिद्धि का उपाय सुबोध है।' इष्ट अर्थात् मोक्षमार्ग और उसका फल अर्थात् मुक्ति। अहाहा... ! आत्मा सर्व दुःखों से मुक्त होकर पूर्णानन्द को प्राप्त करे, उसका नाम मुक्ति है। अहा... ! इस इष्टफल की सिद्धि का उपाय, अर्थात् मुक्ति का उपाय सुबोध है, सम्यग्ज्ञान है। यहाँ मुक्ति का उपाय ज्ञान है – ऐसा कहा है।

तो दर्शन (सम्यग्दर्शन) कहाँ गया?

उसमें–ज्ञान में साथ ही आ गया, क्योंकि दोनों साथ ही होते हैं न! परन्तु यहाँ ज्ञान की प्रधानता से सुबोध–सम्यग्ज्ञान को मुक्ति का

उपाय कहा है। अहा! शुद्धनय के अनुसार 'यह वस्तु है' – ऐसा शुद्धात्मा का भान होने पर; उसकी प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है; इसलिए हैं तो दोनों (ज्ञान और दर्शन) साथ ही हैं; यहाँ ज्ञान की मुख्यता से सुबोध को कारण कहा है।

अहा...! कहते हैं – मुक्ति का उपाय सुबोध-सम्यग्ज्ञान है। अहा..! आत्मा को परमानन्द की-परमसुख की प्राप्तिरूप परमपद का-मुक्ति का उपाय सम्यग्ज्ञान है, अर्थात् सम्यग्ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।

अहा...! ऐसा सम्यग्ज्ञान कैसे होता है ? तो कहते हैं –

'सुबोध सुशास्त्र से होता है।'

लो, ऐसा सम्यग्ज्ञान, सुशास्त्र से होता है। सुशास्त्र कहा है, कुशास्त्र नहीं।

आशंका :– परन्तु एक ओर तो आप कहते हो कि शास्त्र से ज्ञान नहीं होता?

समाधान :– अरे भाई! यहाँ क्या अपेक्षा है, वह समझना चाहिए। यहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सिद्ध करते हैं। देव को मानना है न! तो यह (सुशास्त्र) निमित्त है और उसकी यहाँ प्रसिद्धि (उपस्थिति) सिद्ध करते हैं क्योंकि ये ही निमित्त होते हैं परन्तु अन्य कुशास्त्र निमित्त नहीं होते। अहा... ! व्यवहार सिद्ध करना है। अरहन्तदेव सिद्ध करना है, देव का उपचार सिद्ध करना है। (अर्थात् व्यवहार से देव कैसे होते हैं – यह बताना है।) तो उसमें क्या दोष है? यह तो निमित्त की भाषा है बापू! देखो, अब क्या कहते हैं? कि –

'सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है।'

सच्चेशास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर से होती है –

ऐसा कहते हैं। आप्त अर्थात् हित के लिए माननेयोग्य। अहा... ! ऐसे जो आप्त-सर्वज्ञ परमात्मा हैं, उनसे शास्त्र की उत्पत्ति होती है।

देखो, शास्त्र की उत्पत्ति भगवान से होती है – ऐसा कहते हैं। अहा! निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहना है न! अतः सुशास्त्र भगवान सर्वज्ञ परमात्मा के कहे हुए हैं – ऐसा कहते हैं। अहा! पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को ॐ... ऐसी ओमध्वनि सर्वांग से उत्पन्न होती है, वे ऐसे (हमारी-तुम्हारी तरह खण्ड-खण्डरूप भाषा) नहीं बोलते। ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा से सुशास्त्र की उत्पत्ति होती है।

इसलिए कहते हैं –

'इसलिए उनके प्रसाद के कारण आप्तपुरुष बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य हैं।'

श्रीमद् में आता है कि –

'करुणा हम पावत हैं तुमरी, यह बात रही सुगुरुगम की।'

अहा... ! भगवान को कहते हैं – प्रभु! आपकी करुणा से हम यह पाते हैं। यह कथन निमित्त सापेक्ष है। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि 'इसलिए उनके प्रसाद के कारण....' अर्थात् मुक्तिमार्ग और मुक्ति आप्तपुरुष के प्रसाद का फल है और इसीलिए आप्तपुरुष –अठारह दोषरहित अरहन्तपरमात्मा, बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य हैं। 'बुधजनों द्वारा' क्यों कहा ? क्योंकि मूढ़जनों को आप्त के स्वरूप का भान नहीं होता।

अहा! आप्तपुरुष-हित के लिए माननेयोग्य ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर, कि जिनको आत्मा की रिद्धि-सिद्धि पूर्ण प्रगट हो गई है, वे जिनवाणी –सुशास्त्र का निमित्त हैं और सुशास्त्र, सम्यग्ज्ञान में निमित्त होते हैं और उस ज्ञान से मुक्ति होती है। अहा! ऐसा व्यवहार है न! तो

यह व्यवहार है, इतना ही यहाँ सिद्ध करते हैं क्योंकि ऐसा निमित्त –नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

अहा! प्रभु आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, उसकी पूर्णज्ञान और आनन्ददशा की प्राप्ति होना, वह इष्टफल–मुक्ति है; और वह इष्टफल –मुक्ति ज्ञान से–सम्यग्ज्ञान से होता है। अर्थात् ज्ञान, मुक्ति का कारण है।

आशंका :– अकेले ज्ञान को मुक्ति का कारण कहा तो दर्शन, चारित्र और तप कहाँ गये?

समाधान :– अब सुन तो सही प्रभु! वे सब इसमें आ गये। जो अपने आत्मा का ज्ञान है, उस आत्मज्ञान में दर्शन–चारित्र और इच्छा के निरोधरूप तप आदि सभी आ जाते हैं क्योंकि वे सब ज्ञान की दशाएँ हैं, वे कोई राग की दशा नहीं हैं।

अहा...! ऐसा सम्यग्ज्ञान–सुबोध, सुशास्त्र से (भगवान की वाणी से) होता है और सुशास्त्र की उत्पत्ति भगवान से होती है; इसलिए कहते हैं कि उनके प्रसाद के कारण आप्तपुरुष बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य है।

'अर्थात् मुक्ति, सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से......'

देखा, यहाँ मुक्ति को सर्वज्ञदेव की कृपा का फल कहा है।

प्रश्न :– ऐसा क्यों कहा ?

समाधान :– भाई! स्वयं सम्यग्दर्शन–ज्ञान प्राप्त करता है तो उसमें निमित्त कौन है? कि सुशास्त्र; और सुशास्त्र में निमित्त कौन है? कि सर्वज्ञ। लो, यह सिद्ध करना है। अपूर्व बात है भाई! अहा..! कहते हैं कि वाणी से ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होने में यदि कोई वाणी निमित्त होती है तो वह भगवान की ही होती है – ऐसा कहना है और वह वाणी भगवान से उत्पन्न होती है।

प्रश्न :– तो क्या भगवान, वाणी के कर्त्ता हैं? भगवान है; इसलिए वाणी निकलती है ?

समाधान :– नहीं, परन्तु यहाँ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की बात है, इसलिए ऐसा कहा है; वरना वाणी तो वाणी के कारण निकलती है। वाणी की पर्याय तो वाणी से ही है, (उसमें भगवान का कुछ भी कर्तव्य नहीं है।) परन्तु ऐसी (ओमध्वनि) वाणी में सर्वज्ञदेव ही निमित्त होते हैं और सम्यग्ज्ञान पानेवाले को वैसी वाणी ही निमित्त होती है – ऐसी बात है।

संवर अधिकार में (समयसार गाथा–१९०–१९२ में) आता है कि अध्यवसान, आस्रव का कारण है; आस्रव, कर्म का कारण है और कर्म, नोकर्म का कारण है – ऐसा आता है न! लो, कर्म के कारण शरीर मिलता है, यह कहते हैं परन्तु क्या हो? निमित्त –नैमित्तिक सम्बन्ध बताना होवे तो क्या कहें? (निमित्तपरक भाषा ऐसी ही होती है।) तो विपरीतता में ऐसा है तो सुलटे में भी यह है।

यहाँ कहते हैं '**मुक्ति, सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से सर्वज्ञदेव, ज्ञानियों द्वारा पूज्यनीय है।**

आशय यह है कि जिसको आत्मा का भान हुआ है, वह धर्मीपुरुष भगवान सर्वज्ञदेव को पूजनेयोग्य मानता है – ऐसा व्यवहार है।

जबकि दूसरी ओर 'द्रव्यदृष्टि प्रकाश में' (भाग ३, बोल २८५) ऐसा आया है कि कितने ही जीवों को भगवान की वाणी सुनने का व्यसन हो गया है तथा वही कहा है कि वह सुनना सो तो नुकसान है। तो ऐसा किसलिए कहा? क्योंकि वह विकल्प है और उस विकल्प के समय परलक्षी ज्ञान होता है, जो आत्मा को हित का कारण नहीं हैं। वह निश्चय–परमार्थ की बात है; जबकि यहाँ निमित्त बताते हुए व्यवहार की बात कही है।

प्रश्न :– उसमें (द्रव्यदृष्टि प्रकाश में) ऐसा भी आता है न कि एकान्त में बैठकर विचारणा करनी?

समाधान :– विचारणा अर्थात् एकाग्रता; और एकान्त में बैठना अर्थात् राग से हटकर अन्दर में बैठना – ऐसा उसका अर्थ है। यही एकान्त है, अन्य एकान्त कौन-सा है ? अरे! लोग कथन की अपेक्षा को तो जानते नहीं और विरोध करते हैं परन्तु ऐसा नहीं होता बापा! जहाँ जैसा है, वहाँ वैसा समझना चाहिए। कहा भी है –

'ज्यां-ज्यां जो-जो योग्य है वहाँ समझना वह।'
वहाँ-वहाँ वह वह आचरे आत्मार्थीजन वह॥'

- श्रीमद् राजचंद्र, आत्मसिद्धि

देखो, मृत्यु के समय शरीर में शूल चढ़े, आंतड़ियाँ खिचें और धमनी की तरह श्वांस चले, तो भी आत्मा में ही रहता है। यह क्या कोई साधारण बात है? जबकि अज्ञानी तो मृत्यु के समय 'हाय रे हाय' पुकारता है। उस समय कितने ही पैसे हों तो भी क्या काम आयेंगे? सामने धन का ढेर कर दे और माँगे कि मैंने कमाने में बहुत श्रम किया है, अब तो तू शरण दे! तो क्या वह शरण देगा? बापू! कोई काम नहीं आयेगा; परन्तु अरे! मोह की जंजाल कैसी है?

मनुष्य को दो पैर होते हैं। स्त्री आने पर चार पैरवाला हुआ-ढोर हुआ। ढोर को चार पैर होते हैं न? फिर उसको पुत्र हुआ, तो छह पैरवाला हुआ-भँवरा हुआ। मेरा पुत्र.... मेरा पुत्र... इस तरह गुंजन किया करता है। फिर उस पुत्र की स्त्री आई तो आठ पैरवाला हुआ -मकड़ी हुआ और मुँह में से लार निकालकर उसमें फँसकर मर जाता है।

देखो, यह जंजाल! मुझे स्त्री का काम करना है, पुत्र का काम करना है और उसकी स्त्री का काम करना है – इस तरह बहुत

लम्बा लंगर चलता है। परन्तु बापा! तुझे अपना (आत्मा का) काम करना है, यह तो देख। अरे! यह बाहर का काम अपना मानकर मर गया है, करके नहीं, क्योंकि पर के काम तो आत्मा करता ही कब है? (पर का काम तो कोई कर सकता ही नहीं है।)

यहाँ कहते हैं – मुक्ति, सर्वज्ञ की कृपा का फल है। यही श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने (समयसार, गाथा–५ में) कहा है, न कि हमारे गुरु ने अनुग्रह करके हमको शुद्धात्मा का उपदेश दिया है। अहाहा...! भगवान! तू शुद्ध है, बुद्ध है; रागरहित है, प्रभु है ! – इस प्रकार हमको देव–गुरु ने कृपा करके हमारा निधानरूप शुद्धात्मा बताया है और उनकी कृपा के फलस्वरूप हमको हमारा निजवैभव प्रगट हुआ है – ऐसा कहा है या नहीं ? (कहा है।)

प्रश्न : – परन्तु प्रभु! वैभव तो निजद्रव्य के आश्रय से प्रगटा है न?

उत्तर : – (हाँ, यह परमार्थ है) परन्तु भाई! इसमें यह सब व्यवहार बतलाया है। द्रव्य के आश्रय से वैभव प्रगटा, उसमें बाह्य में ऐसे ही निमित्त होते हैं – ऐसा सिद्ध करने के लिए निमित्त से ऐसा कहा गया है। अन्य क्या कहा जाए? अहा! हमारे छद्मस्थ गुरु भी अन्तर्मुख लीन थे–अन्तःनिमग्न थे और उन गुरु ने कृपा करके हमको शुद्धात्मा दिया–बताया।

प्रश्न : – बस, शुद्धात्मा ही दिया–बताया ?

समाधान : – अन्य बहुत अधिक कहा है, उसका सार यह कहना है कि भगवान! तू शुद्धात्मा है, उसको पकड़ और वहाँ लीन हो – ऐसी सूक्ष्म बात है।

अहाहा......! कहते हैं कि मुक्ति, सर्वज्ञदेव की कृपा का फल

होने से भगवान सर्वज्ञदेव ज्ञानियों द्वारा पूज्यनीय हैं। क्यों? '**क्योंकि किए हुए उपकार को साधुपुरुष (सज्जन) नहीं भूलते है।**'

देखो, उपकार की-अनुग्रह की बात आई है कि सज्जनपुरुष, जिनसे उपकार हुआ हो; उनका उपकार नहीं भूलते – ऐसा कहकर देव का बहुमान किया है। अहो! भगवान आप्त-सर्वज्ञदेव ऐसे ही होते हैं और वे ही हमारे ज्ञान में निमित्त हैं अर्थात् उनकी जो दिव्यवाणी है, वह वाणी ही ज्ञान में निमित्त होती है परन्तु अज्ञानी की वाणी निमित्त नहीं होती। इस प्रकार भगवान की ओमध्वनि का निमित्तपना सिद्ध किया है।

यह नियमसार का जीव अधिकार है। उसमें इस आत्मा के हित के लिए माननेयोग्य भगवान आप्त-देव कैसे होते हैं, उनका वर्णन चल रहा है। धर्मीजीव ऐसे देव को व्यवहार से देव मानता है। तो जिस ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है, वह ज्ञान जिनके वचन से होता है – ऐसे आप्तपुरुष को ज्ञानीजन देव के रूप में स्वीकार करते हैं, उनको वन्दन करते हैं और उनकी पूजन करते हैं। ● ●

परिशिष्ट प्रवचन - 3

केवलज्ञान का स्वीकार करनेवाले जीव को
अनन्त भव की शङ्का नहीं रहती

अहो! केवलज्ञान क्या है? उसकी महिमा का जगत् को पता नहीं है और उस केवलज्ञान की प्रतीति करने में कैसा अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है? - उसका भी अज्ञानी को पता नहीं है... जिसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार है, उसे अनन्त भव की शङ्का नहीं है और जिसे अनन्त भव की शङ्का है, उसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार नहीं हुआ है। जिस प्रकार केवली भगवान को भव नहीं हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान का स्वीकार करनेवालो को भी भव की शङ्का नहीं है। केवलज्ञान की प्रतीति और भव की शङ्का - यह दोनों एक साथ नहीं रह सकते... ज्ञानी निःशङ्कतापूर्वक कहते हैं कि - ***जिसने भवरहित केवलज्ञान का निर्णय किया, उसके अनन्त भव होते ही नहीं; केवली भगवान ने उसके अनन्त देखे ही नहीं।***

श्री सीमन्धर भगवान वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में केवलज्ञानसहित विराजमान हैं। वहाँ दूसरे भी अनेक केवली भगवन्त विचर रहे हैं। केवली भगवान का आत्मा, राग-द्वेषरहित मात्र ज्ञायकबिम्ब हो गया है। ऐसे केवली भगवान को जिसने अपने ज्ञान में स्वीकार किया, उसे ज्ञायकभाव प्रतीति में आ गया। 'अब मेरे

अनन्त भव होंगे तो....' ऐसी शङ्का उसे होती ही नहीं क्योंकि ज्ञानस्वभाव में भव नहीं है। अपने ज्ञान में केवली भगवान का स्वीकार करे और अनन्त भव की शङ्का भी रहे – ऐसा कदापि नहीं हो सकता। जिसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार है, उसे अनन्त भव की शङ्का नहीं है और जिसे अनन्त भव की शङ्का है, उसे केवलज्ञान का स्वीकार नहीं हुआ है। **जिस प्रकार केवलज्ञानी भगवान के भव नहीं है; उसी प्रकार उस केवलज्ञान की प्रतीति करनेवाले को भी भव की शङ्का नहीं रहती।**

अहो! केवलज्ञान क्या है? – उसकी महिमा की जगत् को खबर नहीं है और उस केवलज्ञान की प्रतीति करने में कैसा अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है? – उसकी भी अज्ञानी को खबर नहीं है। जैन सम्प्रदाय में जन्म लिया, इसलिए साधारणतः तो 'केवली भगवान हैं' – ऐसा कहते हैं परन्तु केवलज्ञानी कैसे होते हैं? – वह जानकर निर्णय नहीं करते।

हे भाई! 'केवलज्ञानी हैं' – ऐसा तू कहता है परन्तु वे कहाँ हैं? सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं, इसलिए उनका केवलज्ञान तो वहाँ रहा, परन्तु तेरी प्रतीति में केवलज्ञान आया है? यदि तेरी प्रतीति में केवलज्ञान आया हो तो तुझे अनन्त भव की शङ्का हो ही नहीं सकती। ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही केवलज्ञान का निर्णय होता है; राग के अवलम्बन से उसका निर्णय नहीं होता। कहीं शरीर में, राग में केवलज्ञान प्रगट होने की सामर्थ्य नहीं है परन्तु मेरे ज्ञानस्वभाव में ही केवलज्ञान प्रगट होने का सामर्थ्य है – ऐसी जिसने प्रतीति की, उसे श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ और भव की शङ्का दूर हो गयी।

'केवली भगवान ने मेरे अनन्त भव देखे होंगे' – ऐसी शङ्का

मिथ्यादृष्टि को ही होती है, सम्यक्त्वी को कदापि ऐसी शङ्का नहीं होती। 'मैं अनन्त संसार में परिभ्रमण करूँगा' – ऐसी जिसे शङ्का है, उसे ज्ञायकभाव की– केवलज्ञान की प्रतीति नहीं है; वह अनन्त भव की शङ्कावाला जीव, केवलज्ञान को नहीं देखता किन्तु कर्म को ही देखता है।

जो भवरहित केवली भगवान को देखता है, उसे तो – जिसमें भव नहीं ऐसा – अपना ज्ञायकस्वभाव प्रतीति में आ गया है, उसे अब अनन्त भव होते ही नहीं और केवली भगवान ने उसके अनन्त भव देखे ही नहीं.... उसे स्वयं को भी अनन्त भव की शङ्का नहीं रहती।

साधु नाम धारण करके भी, यदि कोई ऐसा कहे कि – 'अभी हमें भव्य-अभव्य का निर्णय नहीं हो सकता और अनन्त भव की शङ्का दूर नहीं होती' – तो वह जीव तीव्र मिथ्यादृष्टि है, उसने केवली भगवान को नहीं माना है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाले को ही केवलज्ञान का स्वीकार होता है। कर्म के ऊपर जिसकी दृष्टि है, उसे केवलज्ञान का स्वीकार नहीं होता। इस प्रकार भूतार्थस्वभाव के आश्रय-बिना केवली भगवान की प्रतीति नहीं होती।

जगत् में केवलज्ञानी भगवान हैं – ऐसा स्वीकार करनेवाले ने आत्मा में केवलज्ञान के सामर्थ्य की स्वीकार किया है; केवलज्ञान होने का सामर्थ्य अपने में है, उस सामर्थ्य के सन्मुख होकर केवलज्ञान का यथार्थ स्वीकार होता है, इसके अतिरिक्त केवलज्ञान की प्रतीति नहीं होती।

कोई कुतर्की ऐसा कहे कि हम चाहे जितना पुरुषार्थ करें परन्तु यदि केवली भगवान ने अनन्त भव देखे होंगे तो उनमें से एक भी भव कम नहीं हो सकता – तो ज्ञानी निःशङ्कतापूर्वक उसका अस्वीकार

करके कहते हैं कि अरे मूढ़! **जिसने केवलज्ञान का निर्णय किया है, उसके अनन्त भव होते ही नहीं; जिसने भव-रहित केवलज्ञान का निर्णय किया, उसके अनन्त भव केवली भगवान ने देखे ही नहीं हैं।**

केवलज्ञान में सब प्रतिभासित है; तीन काल में कब क्या हुआ और कब क्या होगा - वह सब केवलज्ञान में ज्ञात हो गया है। जो केवलज्ञान में ज्ञात हुआ, उसमें किञ्चित्मात्र फेरफार नहीं हो सकता परन्तु जिसने केवलज्ञान के ऐसे अचिन्त्य सामर्थ्य का निर्णय किया, उसकी अल्प काल में ही मुक्ति होनेवाली है - ऐसा भगवान के केवलज्ञान में ज्ञात हो गया है।

जिसने केवलज्ञान का स्वीकार किया, उसे आत्मा के परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्य की खबर है, इसलिए उसकी दृष्टि स्वभाव पर है; वह अपने को अल्पज्ञ या अशुद्धता जितना नहीं मानता परन्तु पूर्ण ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर साधकभावरूप परिणमित होता है। केवली भगवान, द्रव्य से और पर्याय से पूर्ण ज्ञायक हैं और परमार्थ से मेरा स्वभाव भी वैसा ही ज्ञायक है; मुझ में भी केवलज्ञान की सामर्थ्य है; इस प्रकार अज्ञानी जीव, प्रतीति नहीं करता; वह तो मात्र व्यवहार और राग की प्रतीति करके अशुद्धतारूप से ही अपना अनुभव करता है।

जिसे अपने ज्ञायकभाव का भान नहीं है और अशुद्धरूप से ही अपना अनुभवन करता है, वह जीव वास्तव में केवलज्ञानी को नहीं देखता परन्तु कर्म और विकार को ही देखता है, उसे संसार की ही रुचि है। - ऐसे जीव को भव की शङ्का का वेदन दूर नहीं होता। भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन बिना केवलज्ञान की प्रतीति भी नहीं होती और भव की शङ्का भी दूर नहीं होती। भूतार्थस्वभाव का

अवलम्बन लेकर जहाँ केवलज्ञान का निर्णय किया, वहाँ भव की शङ्का का स्वप्न में भी वेदन नहीं होता क्योंकि स्वभाव में भव नहीं हैं। **जहाँ अनन्त भव की शङ्का है, वहाँ स्वभाव की ही शङ्का है। जहाँ स्वभाव की निःशङ्कता हुई, वहाँ भव की शङ्का नहीं रहती। केवलज्ञान की प्रतीति और अनन्त भव की शङ्का - यह दोनों एकसाथ नहीं रह सकते।**

'अपना आत्मा भव्य है या अभव्य - यह तो भगवान जाने!' - ऐसा जो कहते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं; उन्होंने भगवान को माना ही नहीं। भगवान भी ऐसा ही देखते हैं कि यह जीव मिथ्यादृष्टि है।

मैं तो अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करनेवाला भव्य ही हूँ, अभव्य नहीं हूँ, - इतनी निशङ्कता भी जिसे अभी नहीं हुई है और मुझें अनन्तानन्त काल में कभी भी सम्यग्दर्शन नहीं होगा - ऐसा अभव्य होने का जिसे सन्देह वर्तता है, वह जीव, भवरहित केवली भगवान की प्रतीति का पुरुषार्थ कहाँ से लायेगा? उसमें तो धर्म प्राप्त करने की पात्रता भी नहीं है; भवरहित केवली भगवान की वाणी कैसी होती है? - उसका भी वह निर्णय नहीं कर सकेगा।

कोई जीव ऐसा माने कि राग से धर्म होगा अथवा देह की क्रिया से धर्म होना माने और कहे कि मैं केवली भगवान का भक्त हूँ, तो वास्तव में वह जीव, केवली भगवान का भक्त नहीं है, वह केवली भगवान को मानता ही नहीं है; वह तो व्यवहारमूढ़ है। वह अज्ञानी जीव, मात्र विकार और व्यवहार का ही अस्तित्व स्वीकार करता है परन्तु परमार्थरूप ज्ञायकस्वभाव के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता; इसलिए वह व्यवहार से ही विमोहित चित्तवाला मिथ्यादृष्टि है।

जो जीव, भूतार्थस्वभाव के सन्मुख होकर आत्मा का शुद्धरूप

से अनुभव करता है, वही सम्यग्दृष्टि है; जिसने अपने भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन लेकर ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, उसी ने वास्तव में केवली भगवान को माना है और वही भगवान का सच्चा भक्त है। भगवान के ऐसे भक्त को भव की शङ्का नहीं रहती, अल्प काल में भव का नाश करके वह स्वयं भी भगवान हो जाता है। ●

[अध्यात्म तीर्थ सोनगढ़ में मानस्तम्भ प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय केवलज्ञानकल्याणक के प्रवचन से]

आपका ही प्रताप दिखायी देता है

यद्यपि आत्मा और शरीर भिन्न है, फिर भी आश्चर्य है कि जहाँ आत्मा पूर्ण शुद्ध हुआ, वहाँ शरीर भी शुद्ध (मलिनतारहित) हो गया; आत्मा में केवलज्ञानमय चैतन्यप्रकाश विकसित हुआ, वहाँ साथ ही शरीर भी अलौकिक प्रकाश से खिल उठा – ऐसा ही प्रकृति का सुमेल है। तथा आस-पास भी जो दिव्य रचना होती है, उसमें दिव्य अशोकवृक्ष को देखकर भक्त कहता है कि हे प्रभो! इसमें हमें आपका ही प्रताप दिखायी देता है। आप अन्धकार का नाश करनेवाले हो; मानों बादलों के मध्य जगमगाता सूर्य उदित होता है, वैसे ही अशोकवृक्ष की हरित छाया को भेदकर आपके शरीर में से चमकती किरणें आकाश में फैल रही हैं और अतिशय सुशोभित हो रही हैं।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

परिशिष्ट प्रवचन - 4

कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ५५ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

समवसरण और उसकी स्वीकृति...

समवसरण क्या चीज है और उसका स्वीकार करनेवाले को कितना स्वीकार करना चाहिए? उसे स्वीकार करना चाहिए कि जगत में अनन्त आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा अनादि से ही अपने स्वभाव का भान भूलकर, चार गतियों में परिभ्रमण करता था, फिर आत्मा का यथार्थ भान किया और पूर्ण वीतरागता नहीं हुई तो वहाँ राग रहा, उस राग में किसी जीव को ऐसा शुभभाव होता है कि तीर्थङ्कर नामकर्म बँध जाए। ऐसे परिणाम अमुक विशिष्ट जीव को ही आते हैं और उसे ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है।

कोई जीव यह चाहे कि मुझे तीर्थङ्कर होना है, इसलिए मैं शुभराग करके अथवा सोलहकारणभावना भाकर तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधूगा - तो ऐसे तीर्थङ्कर नहीं हुआ जाता। सम्यग्दृष्टि की भूमिका में ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य राग आता है परन्तु उस धर्मी जीव को उस राग अथवा तीर्थङ्कर नामकर्म की भावना नहीं होती और सम्यग्दृष्टि जीवों में भी तीर्थङ्कर नामकर्म सबको नहीं बँधता। उसका कारण यह है कि सभी सम्यग्दृष्टि जीवों का राग एक समान नहीं होता।

राग, आत्मा के चारित्रगुण की विपरीत अवस्था है। स्वभाव के भान की भूमिका में भी जब तक वीतरागता न हो, तब तक राग होता

है परन्तु उसमें तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य राग तो अमुक जीव को ही होता है और तत्पश्चात् जब वह राग का अभाव करके, वीतरागता प्रगट करके सर्वज्ञ होता है, तभी उसे तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय आता है। उस समय इन्द्र आकर उन तीर्थङ्कर के दैविक समवसरण की रचना करते हैं। अभी भरतक्षेत्र में ऐसा समवसरण नहीं है परन्तु जब यहाँ महावीर परमात्मा विराजमान थे, तब समवसरण था और देव आकर भगवान की सेवा करते थे। अभी महाविदेहक्षेत्र में श्रीसीमन्धर परमात्मा तीर्थङ्कररूप में विराजमान हैं, उनके ऐसा समवसरण है। यहाँ तो उसकी स्थापना है।

देखो, समवसरण का स्वीकार करने से कितना स्वीकार करना आया? कि —

● आत्मा है; वह एक ही नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न अनन्त आत्माएँ हैं।

● उसकी अवस्था में विकार है।

● उस विकार के निमित्त से कर्म बँधते हैं अर्थात् जगत में अजीवतत्त्व भी है।

● तीर्थङ्कर नामकर्म अमुक जीव को ही बँधता है, सबको नहीं अर्थात् जीवों के परिणामों की विचित्रता है।

● राग का अभाव होकर सर्वज्ञदशा प्रगट होती है और उस दशा में तीर्थङ्कर के समवसरण होता है।

● इस क्षेत्र (भरतक्षेत्र) के अतिरिक्त महाविदेहक्षेत्र आदि क्षेत्र भी हैं - यह सब स्वीकार करनेवाला समवसरण को मान सकता है।

जगत् में अनन्त आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक आत्मा का ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वभाव है, वह त्रिकाल है और उसकी अवस्था प्रतिक्षण पलटती है। उस अवस्था में श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् होने पर भी,

चारित्रगुण की अवस्था में आंशिक विपरीतता / विकारीपना भी रहता है। चारित्रगुण की विपरीतता से राग होता है। वह राग प्रत्येक जीव को एक समान नहीं होता; अपितु उसमें प्रत्येक आत्मा के तारतम्यता होती है। किसी को अमुक प्रकार का, तो किसी को अन्य प्रकार का राग आता है। यदि कोई जीव यह मानता है कि 'मुझे इसी प्रकार का राग करना है' तो वह जीव, राग का कर्ता अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

मैं ज्ञानमूर्ति आत्मा हूँ, राग का अंश भी मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार जिसे आत्मा का भान तो हुआ हो परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई हो, उन जीवों में जो जीव, तीर्थङ्कर होनेयोग्य हो, उसे ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य परिणाम आते हैं और तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है।

देखो, अन्दर में रागरहित स्वभाव का भाव होने पर भी, पर्याय में चारित्र की कमजोरी से राग और उसमें भी जिसके फल में तीर्थङ्कर नामकर्म बँधे, उस जाति का राग; उस राग के निमित्त से तीर्थङ्करप्रकृतिरूप परिणमित होने की योग्यतावाले परमाणु और उनके फल में समवसरण की रचना, आत्मा की पूर्ण वीतरागदशा में भी समवसरण की विभूति का संयोग — यह सब माननेवाला ही यथार्थरूप से समवसरण का स्वीकार कर सकता है।

तीर्थङ्करप्रकृति किसको बँधती है ? जिसे राग का आदर न हो उसे; और उस प्रकृति का फल कब आता है ? जब उस राग का अभाव होकर वीतरागता प्रगट होती है, तब।

तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध तो निचलीदशा में धर्मी को होता है परन्तु उसका उदय तेरहवें गुणस्थान में ही आता है। जिस राग से तीर्थङ्कर प्रकृति बँधती है, उस राग का अभाव होने के बाद ही उसका उदय आता है — यह बात समझने योग्य है।

जिसे पुण्यसामग्री के भोग की इच्छा है, उसे पुण्यसामग्री की पूर्णता नहीं होती। यद्यपि तीर्थङ्कर का पुण्य सर्वोत्कृष्ट होता है परन्तु उसका फल साधकदशा में नहीं आता; राग का अभाव होकर केवलज्ञान होने पर ही उस तीर्थङ्करप्रकृति का फल आता है परन्तु उस समय उस जीव को सामग्री भोगने का रागभाव नहीं होता।

पहले निचलीदशा में रागरहित पूर्णस्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई, उस भूमिका में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हुआ और तत्पश्चात् अन्तर में पूर्ण स्वभाव की भावना भाते-भाते केवलज्ञान हुआ; वहाँ बाह्य में तीर्थङ्करप्रकृति का उदय आया और समवसरण की रचना हुई परन्तु उन केवलीभगवान को संयोग को भोगने का भाव नहीं रहा।

अहो! सौ इन्द्र आकर भक्तिपूर्वक तीर्थङ्कर के चरण कमलों की पूजा करते हैं और दैविक समवसरण की रचना करते हैं, फिर भी भगवान को राग नहीं है; भगवान तो निज स्वरूप के पूर्णानन्द के भोग में ही लीन हैं।

देखो! समवसरण को माननेवाले को आत्मा की ऐसी दशा की पहिचान करनी चाहिए। ऐसी पूर्णानन्दी वीतरागदशा में ही समवसरण का योग होता है; रागी जीव को समवसरण नहीं हो सकता।

इस प्रकार आत्मा के त्रिकाली स्वभाव का, राग का और संयोग का — इन सबका स्वीकार करनेवाले को राग अथवा संयोग की भावना नहीं होती, अपितु अपने स्वभाव की ही भावना होती है। यह सब स्वीकार किये बिना तीर्थङ्कर अथवा तीर्थङ्कर के समवसरण को यथार्थरूप से नहीं माना जा सकता है।

स्वभाव, राग और संयोग — यह तीनों एक साथ विद्यमान हैं, उसमें धर्मी की रुचि स्वभाव पर पड़ी है, उसे संयोग अथवा राग की रुचि नहीं होती।

समवसरण का संयोग आत्मा के लाने से नहीं आता, वह तो जगत के परमाणुओं का परिणमन है। जगत में जीव और जड़ – सभी वस्तुएँ प्रतिक्षण स्वतन्त्ररूप से परिणमित हो रही हैं। उसमें अनादि से उस प्रकार की विशेष योग्यतावाले जीव को ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य शुभपरिणाम आते हैं और उसके उदय के समय बाहर में समवसरण की रचना के योग्य परमाणुओं का ऐसा परिणमन होता है। समकिती जीव को तो समवसरण के संयोग की अथवा जिस भाव से तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है, उस शुभभाव की भी भावना नहीं होती; उसे तो अपने असंयोगी चैतन्यतत्त्व की ही भावना है। मिथ्यादृष्टि जीव को संयोग और राग की भावना है, उसे कभी तीर्थङ्कर नामकर्म नहीं बँधता है।

देखो तो सही, जगत के जीवों के परिणामों की विचित्रता! एक जीव के समवसरण की रचना होती है और दूसरे को नहीं — इसका कारण क्या? अनेक सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं, उनमें भी किसी को ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य शुभपरिणाम आते हैं और अन्य जीवों को वैसे परिणाम आते ही नहीं; इसी प्रकार किसी जीव को आहारकशरीर बँधनेयोग्य शुभभाव आता है और किसी अन्य जीव को मोक्ष प्राप्ति के काल तक भी उस प्रकार का परिणाम नहीं आता; किसी सम्यग्दृष्टि जीव को सर्वार्थसिद्धि का भव प्राप्त होनेयोग्य परिणाम होता है तो किसी सम्यग्दृष्टि जीव को पहले स्वर्ग का इन्द्रपद प्राप्त होनेयोग्य परिणाम होता है; कोई जीव चक्रवर्ती होकर, तत्पश्चात् मुनि होकर मोक्ष प्राप्त करता है और कोई जीव साधारण मनुष्य होकर, तत्पश्चात् मुनि होकर मोक्ष प्राप्त करता है — ऐसी संसार के जीवों के परिणामों की विचित्रता है और निमित्तरूप पुद्गल के परिणमन में भी वैसी ही विचित्रता है।

सभी जीव अनादि से हैं। द्रव्य और गुण से तो सभी जीव समान हैं, फिर भी परिणाम में भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं - इसका कारण क्या है ? — इसका कारण कोई नहीं है; संसार में परिणामों की ऐसी ही विचित्रता है। धर्मी जीव, अपने त्रिकाल एकरूप स्वभाव की दृष्टिपूर्वक संसार की इस विचित्रता का विचार करता है।

बहुत से जीवों को तो अनादि-अनन्त काल में कभी तीर्थङ्करपने का भाव ही नहीं आता और केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और किसी जीव को तीर्थङ्कर नामकर्म बँधनेयोग्य भाव आता है। यद्यपि मोक्ष तो दोनों जीव प्राप्त करते हैं परन्तु उनके परिणामों में विचित्रता है - इसका क्या कारण है ? इसका कारण है, उस-उस पर्याय की वैसी ही योग्यता! **यह एक 'योग्यतावाद' ऐसा है, जो कि समस्त प्रकारों में लागू पड़ता है अर्थात् समस्त प्रकारों का / प्रश्नों का समाधान कर देता है। यह निश्चित करने से 'ऐसा क्यों ?' — यह प्रश्न ही ज्ञान में नहीं रहता।**

देखो, यह संसार के स्वरूप की विचारणा! यह विचार कौन करता है ? 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरे स्वभाव में संसार नहीं है' — ऐसे भानपूर्वक धर्मीजीव, संसार के स्वरूप का विचार करता है। जिसे संसाररहित स्वभाव की दृष्टि प्रगट नहीं हुई है, उसे संसार के स्वरूप का यथार्थ विचार नहीं होता।

जिससे तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध हो, जिससे सर्वार्थसिद्धि का भव प्राप्त हो, जिससे आहारकशरीर प्राप्त हो और जिससे इन्द्रपद अथवा चक्रवर्तीपद प्राप्त हो — इस प्रकार के परिणाम सम्यग्दृष्टि को ही होते हैं परन्तु उस सम्यग्दृष्टि को उनकी भावना नहीं होती और सभी सम्यग्दृष्टियों को उस प्रकार के परिणाम भी नहीं आते। जिसमें उस-उस जाति की योग्यता हो, उसे ही वैसे परिणाम होते हैं।

किसी सम्यग्दृष्टि को भी अनादि-सान्त संसार में उस जाति के परिणाम कभी नहीं आते।

अरे! जिसने संसार में कभी स्वर्ग अथवा नरक का एक भी भव नहीं किया हो, अनादि निगोद (नित्य निगोद) में से निकलकर, मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त कर ले — ऐसे जीव भी जगत में होते हैं। देखो तो सही विचित्रता! कोई जीव तो अनन्त बार नरक या स्वर्ग का अवतार कर चुके और किसी जीव को अनादि-सान्त संसार में, स्वर्ग या नरक का भव हो, वैसे परिणाम ही नहीं आये। एक जीव तो तीर्थङ्कर होकर मोक्ष प्राप्त करता है और दूसरा जीव साधारण राजा भी नहीं होता; सामान्य मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है। जीवों के उस-उस जाति के विकल्पों की विचित्रता है।

धर्मी को यह विचित्रता देखकर आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि वह मात्र विचित्रता को ही नहीं देखता; अपितु एकरूप स्वभाव की दृष्टि को मुख्य रखकर, पर्याय की विचित्रता का ज्ञान करता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को ही संसार के समस्त पहलुओं का भान होता है; अतः उसे ही सच्ची संसारभावना होती है। अकेली पर्यायबुद्धिवाले अज्ञानी जीव को संसारभावना नहीं होती। स्वभाव क्या है और संसार क्या है? इसका ही जिसे भान नहीं है, वह अज्ञानी तो पर्याय की विचित्रता को देखकर विस्मयता में अटक जाता है और ज्ञानी की दृष्टि स्वभाव पर होने से उसे पर्याय की विचित्रता में विस्मयता नहीं होती, अपितु प्रतिक्षण वीतरागता बढ़ती है।

अज्ञानी को तो यथार्थ बारह भावनाएँ होती ही नहीं। जिसकी रुचि विचित्रता के परिणाम पर है और द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि नहीं है, उसे विचित्रता में राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहते। संसारभावनावाले को पर्यायबुद्धि नहीं होती, अपितु चिदानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक

ही इस प्रकार के विचार की श्रेणी चलती है। धर्मी को पर्याय की विचित्रता का विस्मय नहीं होता।

संसार में अनादिकाल से किसी जीव ने तो तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय भव ही प्राप्त नहीं किया हो, वैसे भाव ही उसे नहीं आए हों और निगोद में से निकलकर, मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है तथा किसी जीव को एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तक के अनन्त भव हो गये हों, नौवें ग्रैवेयक के तथा सातवें नरक के अनन्त भव हो गये हों — ऐसे परिणाम आते हैं।

देखो, यह संसार की विचित्रता! धर्मी जीव को स्व-पर की पर्याय की अनेक प्रकार की विचित्रता ख्याल में आने पर भी, उसमें विस्मयता नहीं लगती। 'ऐसा क्यों?' — यह प्रश्न ही उसे नहीं रहता। वह जानता है कि संसार में ऐसी ही विचित्रता होती है।

धर्मी को पर्यायबुद्धि नहीं है। जो पर्याय होनेवाली है, उसे बदला नहीं जा सकता — ऐसा जाननेवाले को द्रव्यबुद्धि हुए बिना नहीं रहती। पर्याय को स्वतन्त्र माननेवाले की दृष्टि द्रव्य पर होना चाहिए और द्रव्यदृष्टिवन्त की पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाती है।

जगत् में अनन्त जीव हैं, उनके द्रव्य-गुण समान होने पर भी पर्याय में विचित्रता है, क्योंकि पर्याय भी स्वतन्त्र होती है। 'इस काल में ऐसी ही पर्याय करूँ' — ऐसा माननेवाले को पर्याय की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं है और द्रव्य-गुण की भी प्रतीति नहीं है।

जैन सिद्धान्त की किसी एक बात का भी यथार्थ स्वीकार होने पर अन्तरङ्ग में ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती। पुण्य, तीर्थङ्कर, समवसरण इत्यादि किसी एक बात का भी यथार्थ स्वीकार होने पर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती।

पर्याय में विचित्रता के काल में विचित्रता है। द्रव्य-गुण समान

होने पर भी पर्याय के प्रकार में अन्तर क्यों? — ज्ञानी को ऐसा सन्देह अथवा विस्मयता नहीं होती। धर्मी जीव तो निज एकरूप स्वभाव पर दृष्टि रखकर, उस विचित्रता को जानता है।

देखो, जगत् में समवसरण अनादि से है। जब यहाँ भगवान महावीर परमात्मा विराजमान थे, तब यहाँ भी समवसरण था। अभी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान विराजमान हैं, वहाँ समवसरण हैं, सन्त-मुनियों के झुण्ड हैं। वहाँ भगवान की वाणी में एक साथ बारह अङ्ग का रहस्य आता है, एक समय में सम्पूर्ण रहस्य उद्घाटित होते हैं और समझनेवाले अपनी योग्यतानुसार समझते हैं। अभी भी कहनेवाले के अभिप्राय में जितनी गम्भीरता होती है, उस अनुसार ही सभी नहीं समझ लेते परन्तु सब अपने-अपने क्षयोपशम की योग्यतानुसार ही समझते हैं।

जगत् में अनन्त जीवों के द्रव्य-गुण एक समान हैं, पर्याय में विकार है। उसमें किसी जीव को तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है और उसके फल में समवसरण की रचना होती है। इन सबकी अस्ति स्वीकार करनेवाला ही समवसरण को मान सकता है।

देखों, कोई जीव आत्मा का भान करके, यथार्थ चारित्रदशा प्रगट करके मुनि होता है। वह हजारों वर्ष आत्मा के ज्ञान-ध्यान में रहने पर भी उसे तीर्थङ्कर नामकर्म नहीं बँधता और किसी चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को भी तीर्थङ्कर नामकर्म बँध जाता है। उस स्थिति में मुनि को यह शङ्का नहीं होती कि 'अरे! इस अविरत सम्यग्दृष्टि को तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध हो गया और मुझे चारित्रदशा होने पर भी तीर्थङ्कर नामकर्म क्यों नहीं बँधा? क्या मेरे चारित्र में कोई कमी है?' इस प्रकार शङ्का नहीं होने का कारण यह है कि मुनि को पता है कि मेरे चारित्र का फल बाहर में नहीं आता। चारित्र के फल में तो केवलज्ञान प्रगट होकर मोक्षदशा प्रगट होती है।

अरे! तीर्थङ्कर नामकर्म तो राग का फल है। आत्मा के चारित्र के फल में तो अन्दर में शान्ति आती है। क्या चारित्र से भी कर्मबन्ध होता है ? चारित्र तो धर्म है, उससे बन्धन नहीं हो सकता और जिस भाव से बन्धन हो, उस भाव को धर्म नहीं कहा जा सकता। सम्यग्दृष्टि को राग के फल में तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है किन्तु उस धर्मात्मा को उसकी भावना नहीं होती, वह ज्ञानी उस राग को धर्म नहीं मानता। देखो, यह संसारभावना! यथार्थ तत्त्व के भान बिना बारह भावनाएँ यथार्थ नहीं होती।

जगत् में अनेक जीव हैं, वे द्रव्य-गुण से समान होने पर भी कोई तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधता है, कोई नहीं बाँधता। क्षायिकसम्यग्दर्शन होने पर भी किसी को तीर्थङ्कर नामकर्म नहीं बँधता और क्षयोपशम सम्यग्दर्शनवाले को बँध जाता है। इसका कारण? वह-वह पर्याय सत् है। 'उसमें ऐसा क्यों?' यह प्रश्न ही नहीं है। वस्तु का सत्स्वरूप है; द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय भी सत् है — ऐसे सत् की प्रतीति करे तो ऐसा क्यों? — यह प्रश्न ही नहीं रहता, अपितु ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होकर वीतरागता प्रगट हो जाती है।

देखो, आज समवसरण का दिवस है और यह संसारभावना का वर्णन है। जगत् में विचित्रता है, प्रत्येक जीव के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं और उनके निमित्त से बँधनेवाले कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं। उनके फल में किसी को समवसरण होता है, किसी को नहीं होता। जिसे संसार की ऐसी विचित्रता जँचती है, उसे पर्याय की विचित्रता को देखकर सन्देह नहीं होता। ●●

परिशिष्ट प्रवचन – 5

सर्वज्ञता की महिमा

◆ मोक्षमार्ग के मूल उपदेशक श्री सर्वज्ञदेव हैं; इसलिए जिसे धर्म करना हो, उसे सर्वज्ञ को पहिचानना चाहिए।

◆ निश्चय से जैसा सर्वज्ञ भगवान का स्वभाव है, वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है; इसलिए सर्वज्ञ को पहिचानने से अपने आत्मा की पहिचान होती है। जो जीव सर्वज्ञ को नहीं पहिचानता, वह अपने आत्मा को भी नहीं पहचानता।

◆ समस्त पदार्थों को जानने के सामर्थ्यरूप सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है, किन्तु पर में कोई फेरफार करे – ऐसी शक्ति आत्मा में कदापि नहीं है

◆ अहो! समस्त पदार्थों को जानने की शक्ति आत्मा में सदैव विद्यमान है, उसकी प्रतीति करनेवाला जीव धर्मी है।

◆ वह धर्मी जीव जानता है कि मैं अपनी ज्ञान क्रिया का स्वामी हूँ, किन्तु पर की क्रिया का मैं स्वामी नहीं हूँ।

◆ आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है, उस शक्ति का विकास होने पर अपने में सर्वज्ञता प्रगट होती है, किन्तु आत्मा की शक्ति का विकास पर का कुछ कर दे – ऐसा नहीं होता।

◆ साधक को पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट नहीं हुई है, तथापि वह अपनी सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति करता है।

◆ वह प्रतीति उसने पर्याय की ओर देखकर नहीं की है, किन्तु स्वभाव की ओर देखकर की है। वर्तमान पर्याय तो स्वयं ही अल्पज्ञ है; उस अल्पज्ञता के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति कैसे हो सकती है?

◆ अल्पज्ञ पर्याय द्वारा सर्वज्ञता की प्रतीति होती है, किन्तु अल्पज्ञता के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति नहीं होती; त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से ही सर्वज्ञता की प्रतीति होती है।

प्रतीति करनेवाली तो पर्याय है, किन्तु उसे आश्रय द्रव्य का है।

द्रव्य के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति करनेवाले जीव को सर्वज्ञतारूप परिणमन हुए बिना नहीं रहता।

अल्पज्ञ पर्याय के समय भी, अपने में सर्वज्ञत्वशक्ति होने का जिसने निर्णय किया, उसकी रुचि का जोर अल्पज्ञ पर्याय की ओर से हटकर अखण्ड स्वभाव की ओर ढल गया है, इसलिए वह जीव 'सर्वज्ञ भगवान का लघुनन्दन' हुआ है।

अभी स्वयं को सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व 'मेरा आत्मा त्रिकाल सर्वज्ञतारूप परिणमित होने की शक्तिवाला है' – ऐसा जिसने स्वसन्मुख होकर निर्णय किया, वह जीव अल्पज्ञता को, राग को या पर को अपना स्वरूप नहीं मानता; अपने पूर्ण ज्ञानस्वरूप पर ही उसकी दृष्टि होती है।

जो आत्मा अपनी पूर्ण ज्ञानशक्ति की प्रतीति करता है, वही सच्चा जैन और सर्वज्ञदेव का भक्त है।

आत्मा, पर का ग्रहण–त्याग करता है अथवा पर में फेरफार करता है – ऐसा जो मानता है, वह जीव, आत्मा की शक्ति को, सर्वज्ञदेव को या जैनशासन को नहीं मानता, वह सचमुच जैन नहीं है।

देखो भाई! आत्मा का स्वभाव ही 'सर्वज्ञ' है। सर्वज्ञशक्ति

समस्त आत्माओं में भरी है। 'सर्वज्ञ' अर्थात् सबको जाननेवाला। सर्व को जाने – ऐसा महान महिमावन्त अपना स्वभाव है; उसे अन्यरूप / विकारी स्वरूप मान लेना, वह आत्मा की बड़ी हिंसा है। आत्मा महान भगवान है, उसकी महानता के यह गीत गाये जा रहे हैं।

भाई रे! तू सर्व का 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञाता है, किन्तु पर में फेरफार करनेवाला तू नहीं है। जहाँ प्रत्येक वस्तु भिन्न है, वहाँ भिन्न वस्तु का तू क्या करेगा? तू स्वतन्त्र और वह भी स्वतन्त्र। अहो! ऐसी स्वतन्त्रता की प्रतीति में अकेली वीतरागता है।

'अनेकान्त' अर्थात् मैं अपने ज्ञानतत्त्वरूप हूँ और पररूप से नहीं हूँ – ऐसा निश्चय करते ही जीव स्वतत्त्व में रह गया और अनन्त परतत्त्वों से उदासीनता हो गयी। इस प्रकार अनेकान्त में वीतरागता आ जाती है।

ज्ञानतत्त्व की प्रतीति के बिना पर की ओर से सच्ची उदासीनता नहीं होती।

स्व–पर के भेदज्ञान बिना वीतरागता नहीं होती। ज्ञानतत्त्व से च्युत होकर 'मैं पर का कर्ता हूँ' – ऐसा मानना एकान्त है; उसमें मिथ्यात्व और राग–द्वेष भरे हैं; वही संसार भ्रमण का मूल है।

'मैं ज्ञानरूप हूँ और पररूप नहीं हूँ' – ऐसे अनेकान्त में भेदज्ञान और वीतरागता है, वही मोक्षमार्ग है और परम अमृत है।

जगत् में स्व और पर सभी तत्त्व निज–निजस्वरूप से सत् हैं; आत्मा का स्वभाव उन्हें जानने का है, तथापि 'मैं पर को बदलता हूँ' – ऐसे विपरीत अभिप्राय में सत् की हत्या होती है, इसलिए उस विपरीत अभिप्राय को महान हिंसा कहा जाता है और वही महान पाप है।

अहो! मैं तो ज्ञान हूँ; सारा जगत् ज्यों का त्यों अपने-अपने स्वरूप में विराज रहा है और मैं अपने ज्ञानतत्त्व में विराजमान हूँ तो फिर कहाँ राग और कहाँ द्वेष? राग-द्वेष कहीं है ही नहीं। मैं तो सबका ज्ञाता-सर्वज्ञता का पिण्ड हूँ; मेरे ज्ञानतत्त्व में राग-द्वेष हैं ही नहीं - ऐसा धर्मी जानता है।

हे जीव! ज्ञानी तुझे तेरा आत्मवैभव बतलाते हैं। अपने ज्ञान में ही स्थिर रहकर एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाने - ऐसा ज्ञानवैभव तुझमें विद्यमान हैं। यदि अपनी सर्वज्ञशक्ति का विश्वास करे तो कहीं भी परिवर्तन करने की बुद्धि दूर हो जाए।

वस्तु की पर्याय में जिस समय जो कार्य होना है, वही नियम से होता है और सर्वज्ञ के ज्ञान में उसी प्रकार ज्ञात हुआ है; - ऐसा जो नहीं मानता और निमित्त के कारण उसमें फेरफार होना मानता है, उसे वस्तुस्वरूप की या सर्वज्ञता की प्रतीति नहीं है।

सर्वज्ञता कहते ही समस्त पदार्थों का तीनों काल का परिणमन सिद्ध हो जाता है। यदि पदार्थ में तीनों काल की पर्यायें निश्चित क्रमबद्ध न होती हों और उल्टी-सीधी होती हों तो सर्वज्ञता ही सिद्ध नहीं हो सकती; इसलिए सर्वज्ञता स्वीकार करनेवाले को वह सब स्वीकार करना ही पड़ेगा।

आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है, वह 'आत्मज्ञानमयी' है। आत्मा परसन्मुख होकर पर को नहीं जानता, किन्तु आत्मसन्मुख रहकर आत्मा को जानते हुए लोकालोक ज्ञात हो जाता है; इसलिए सर्वज्ञत्व -शक्ति आत्माज्ञानमय है। जिसने आत्मा को जाना, उसने सर्व जाना।

हे जीव! तेरे ज्ञानमात्र आत्मा के परिणमन में अनन्त धर्म एक

साथ उछल रहे हैं, उसी में झाँककर अपने धर्म को ढूँढ़; कहीं बाह्य में अपने धर्म को मत खोज। तेरी अन्तरशक्ति के अवलम्बन से ही सर्वज्ञता प्रगट होगी।

जिसने अपने में सर्वज्ञता प्रगट होने की शक्ति मानी है, वह जीव, देहादि की क्रिया का ज्ञाता रहा; पर की क्रिया को बदलने की बात तो दूर रही, किन्तु अपनी पर्याय को आगे-पीछे करने की बुद्धि भी उसके नहीं होती। ज्ञान कहीं फेरफार नहीं करता; मात्र जानता है। जिसने ऐसे ज्ञान की प्रतीति की, उसे स्वसन्मुख दृष्टि के कारण पर्याय-पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाती है और राग छूटता जाता है - इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की दृष्टि, वह मुक्ति का कारण है।

'सर्वज्ञता' कहने से दूर के या निकट के पदार्थों को जानने में भेद नहीं रहा; पदार्थ दूर हो या निकट हो, उसके कारण ज्ञान करने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। दूर के पदार्थ को निकट करना या निकट के पदार्थ को दूर करना ज्ञान का कार्य नहीं है, किन्तु निकट के पदार्थ की भाँति ही दूर के पदार्थ को भी स्पष्ट जानना ज्ञान का कार्य है। 'सर्वज्ञता' कहने से सर्व को जानना आया, किन्तु उनमें कहीं 'यह अच्छा, यह बुरा' - ऐसी बुद्धि या राग द्वेष करना नहीं आया।

केवली भगवान को समुद्घात होने से पूर्व उसे जाननेरूप परिणमन हो गया है; सिद्धदशा होने से पूर्व उसका ज्ञान हो गया है; भविष्य की अनन्तानन्त सुखपर्यायों का वेदन होने से पूर्व सर्वज्ञत्वशक्ति उसे जाननेरूप परिणमित हो गयी - इस प्रकार ज्ञान तीनों काल की पर्यायों को जान लेने के सामर्थ्यवाला है, किन्तु उनमें किसी पर्याय के क्रम को आगे-पीछे करके भविष्य में होनेवाली पर्याय को वर्तमान में लाये - ऐसा नहीं हो सकता।

श्री आचार्यदेव, सर्वज्ञत्वशक्ति की पहिचान कराते हैं कि हे

जीव! तेरे ज्ञान का कार्य तो मात्र 'जानना ही है; राग-द्वेष करना तो तेरा स्वरूप नहीं है और अपूर्ण जाननेरूप परिणमित हो - ऐसा भी तेरे ज्ञान का मूल स्वरूप नहीं है, सबको जाननेरूप परिणमें - ऐसी तेरे ज्ञान की पूर्ण सामर्थ्य है। ऐसी अपनी ज्ञानशक्ति को पहिचान तो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होकर अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा।

मेरे आत्मा में सर्वज्ञत्वशक्ति है - ऐसा जिसने स्वीकार किया, उसने अपने स्वभाव में राग-द्वेष का अभाव भी स्वीकार किया, क्योंकि जहाँ सर्वज्ञता हो, वहाँ राग-द्वेष नहीं होते और जहाँ राग-द्वेष हों, वहाँ सर्वज्ञता नहीं होती। इसलिए सर्वज्ञ-स्वभाव को स्वीकार करनेवाला कभी राग-द्वेष से लाभ नहीं मान सकता; और राग-द्वेष से लाभ माननेवाला सर्वज्ञस्वभाव को स्वीकार नहीं कर सकता।

ज्ञानी कहते हैं कि तिनके के टुकड़े करने की शक्ति भी हम नहीं रखते - इसका आशय यह है कि हम तो ज्ञायक हैं; एक परमाणुमात्र को भी बदलने का कर्तृत्व हम नहीं मानते। तिनके के दो टुकड़े हों, उसे करने की शक्ति हमारी या किसी आत्मा की नहीं है, किन्तु जानने की शक्ति है और वह भी इतना ही जानने की नहीं, किन्तु परिपूर्ण जानने की शक्ति है।

जो जीव अपने ज्ञान की पूर्ण जानने की शक्ति माने तथा उसी का आदर और महिमा करे, वह जीव अपूर्णदशा को या राग को अपना स्वरूप नहीं मानता तथा उसका आदर और महिमा नहीं करता; इसलिए उसे ज्ञान के विकास का अहङ्कार कहाँ से होगा? जहाँ पूर्ण स्वभाव का आदर है, वहाँ अल्प ज्ञान का अहङ्कार होता ही नहीं है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा, संयोगरहित तथा पर में रुकने के भाव से रहित है। किसी अन्य द्वारा उसका मान या अपमान नहीं है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वयं अपने से ही परिपूर्ण एवं सुख से भरपूर है।

सर्वज्ञता अर्थात् अकेला ज्ञान... परिपूर्ण ज्ञान। ऐसे ज्ञान से भरपूर आत्मा की प्रतीति करना, वह धर्म की नींव है। धर्म का मूल है।

मुझमें ही सर्वज्ञरूप से परिणमित होने की शक्ति है, उसी से मेरा ज्ञान परिणमित होता है – ऐसा न मानकर, शास्त्रादि निमित्तों के कारण मेरा ज्ञान परिणमित होता है – ऐसा जिसने माना है, उसने संयोग से लाभ माना है; इसलिए उसे संयोग में सुखबुद्धि है क्योंकि जो जिससे लाभ माने, उसे उसमें सुखबुद्धि होती है। चैतन्यबिम्ब स्वतत्त्व के अलावा अन्य से लाभ मानना मिथ्याबुद्धि है।

'मेरा आत्मा ही सर्वज्ञता और परमसुख से भरपूर है' – ऐसी जिसे प्रतीति नहीं है, वह जीव, भोग हेतु धर्म की अर्थात् पुण्य की ही श्रद्धा करता है; चैतन्य के निर्विषय सुख का उसे अनुभव नहीं है, इसलिए गहराई में उसे भोग का ही हेतु विद्यमान है।

सर्वज्ञत्वरूप से परिणमित होने की आत्मा की शक्ति है, उसका आश्रय करने के बदले निमित्त के आश्रय से ज्ञान विकसित होता है – ऐसा जो मानता है, उसकी पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि दूर नहीं हुई; निमित्त और विषय दोनों एक हैं। निमित्त के आश्रय से लाभ माननेवाला या विषयों में सुख माननेवाला, इन दोनों के अभिप्राय की एक ही जाति है; वे आत्मस्वभाव का आश्रय करके परिणमित न होकर, संयोग का आश्रय करके ही परिणमित हो रहे हैं। भले ही शुभभाव हो, तथापि उनके विषयों की रुचि दूर नहीं हुई है और स्वभाव के अतीन्द्रिय सुख की रुचि हुई नहीं है; उन्होंने अपने आत्मा को ध्येयरूप नहीं बनाया है, किन्तु विषयों को ही ध्येयरूप बनाया है।

अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त सर्व पदार्थ परविषय

हैं; उनके आश्रय से लाभ माननेवाले को परविषयों की प्रीति है। जो अपने स्वभाव की प्रतीति करता है, उसे किन्हीं परविषयों में सुखबुद्धि नहीं रहती।

अहो! मेरे आत्मा में सर्वज्ञता की सामर्थ्य है – ऐसी जिसने प्रतीति की, उसने वह प्रतीति अपनी शक्ति की ओर देखकर की है या पर की ओर देखकर? आत्मा की शक्ति की प्रतीति आत्मा को ध्येय बनाकर होगी या पर को ध्येय बनाकर? किसी निमित्त, राग या अपूर्ण पर्याय के लक्ष्य से पूर्ण शक्ति की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु अखण्डस्वभाव के आश्रय से ही पूर्णता की प्रतीति होती है। स्वभाव के आश्रय से पूर्णता की प्रतीति करनेवाले को कहीं भी पर के आश्रय से लाभ की बुद्धि नहीं रहती।

अरहन्त भगवान जैसी आत्मा की सर्वज्ञशक्ति अपने में भरी है। यदि अरहन्त भगवान की ओर ही देखता रहे और अपने आत्मा की ओर ढलकर निजशक्ति को न संभाले तो मोह का क्षय नहीं होता। जैसे शुद्ध अरहन्त भगवान हैं, शक्तिरूप से वैसा ही मैं हूँ; इस प्रकार यदि अपने आत्मा की ओर उन्मुख होकर जाने तो सम्यग्दर्शन प्रगट होकर मोह का क्षय होता है। इसलिए परमार्थ से अरिहन्त भगवान इस आत्मा के ध्येय नहीं है, किन्तु अरहन्त जैसे सामर्थ्यवाला अपना आत्मा ही अपना ध्येय है। अरहन्त भगवान की शक्ति उनमें हैं; उनके पास से ही कहीं इस आत्मा की शक्ति नहीं आती; उनके आश्रय से तो राग होता है।

प्रभो! तेरी चैतन्य सत्ता के असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में अचिन्त्य निधान भरे हैं; तेरी सर्वशक्ति तेरे ही निधान में विद्यमान है; उसकी प्रतीति करके स्थिरता द्वारा उसे खेर (खन) तो उसमें से तेरी सर्वज्ञता प्रगट हो।

जिस प्रकार पूर्णता को प्राप्त ज्ञान में निमित्त का अवलम्बन नहीं है, उसी प्रकार निचलीदशा में भी ज्ञान, निमित्त के कारण नहीं होता; इसलिए वास्तव में पूर्णता की प्रतीति करनेवाला साधक, अपने ज्ञान को परालम्बन से नहीं मानता, किन्तु स्वभाव के अवलम्बन से मानकर स्वोन्मुख करता है।

सर्वज्ञशक्तिवान् अपने आत्मा की ओर देखे तो सर्वज्ञता की प्राप्ति हो सकती है; पर की ओर देखने में आत्मा का कुछ नहीं हो सकता। अनन्त काल तक पर की ओर देखता रहे तो वहाँ से सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होगी और निजस्वभाव ओर देखकर स्थिर होने से क्षणमात्र में सर्वज्ञता प्रगट हो सकती है।

सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व साधकदशा में ही आत्मा की पूर्ण शक्ति की प्रतीति होती है। पूर्ण शक्ति की प्रतीति करके उसका आश्रय लेने से ही साधकदशा प्रारम्भ होकर पूर्णदशा प्रगट होती है।

'अहो! मेरा सर्वज्ञपद प्रगट होने की शक्ति मुझमें वर्तमान ही विद्यमान है!' – इस प्रकार स्वभाव-सामर्थ्य की श्रद्धा करते ही वह अपूर्व श्रद्धा, जीव को बाह्य में उछलकूद करने से रोक देती है और उसके परिणमन को अन्तर्मुख कर देती है। स्वभावोन्मुख हुए बिना सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति नहीं होती।

अन्तर्मुख होकर सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति करने से उसमें मोक्ष की – धर्म की क्रिया आ जाती है। जो जीव स्वभावोन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता और निमित्त की सन्मुखता से लाभ मानता है, उस जीव की विषयों में से सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है; इसलिए अन्तर्मुख स्वभावबुद्धि नहीं हुई है।

स्वभावबुद्धिवाला धर्मी जीव ऐसा जानता है कि मस्तक

काटनेवाला कसाई और दिव्यध्वनि सुनानेवाले वीतरागदेव – दोनों मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं; उन ज्ञेयों के कारण मुझे कोई हानि या लाभ नहीं है तथा उनके कारण में उन्हें नहीं जानना। राग–द्वेष के बिना समस्त ज्ञेयों को जान लेने की सर्वज्ञशक्ति मुझमें भरी है। कदाचित् अस्थिरता का विकल्प आ जाए, तथापि धर्मों की ऐसी श्रद्धा कभी नहीं हटती।

अपने जिस पूर्णस्वभाव को प्रतीति में लिया है, उसी के अवलम्बन के बल से अल्प काल में धर्मी को पूर्ण सर्वज्ञता विकसित हो जाती है।

जय हो उस सर्वज्ञता की और उसके साधक सन्तों की! ●

[आत्मधर्म गुजराती, वर्ष 10 अङ्क 120 से]

देखो तो सही, जैन सन्तों की बात!

देखो तो सही, जैन सन्तों की बात! चारों ओर से एक ही प्रयोजन बताकर शुद्धात्मा में ले जाते हैं और बन्धन से छुड़ाते हैं। 'जिन जैसे निज' स्वभाव में एकाग्रतारूप, अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप जो परमार्थ जिनभक्ति है, उससे मिथ्यात्व से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के सभी कर्मबन्धन की बेड़ी नष्ट हो जाती है और आत्मा स्वयं मुक्त–सर्वज्ञ परमात्मा बन जाता है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य

साधकदशा ही परमार्थस्तवन है

हे भाई! तू सर्वज्ञस्वरूप को लक्ष्य में लेकर उसकी उपासना कर! तेरे 148 कर्मबन्धन की बेड़ी क्षणमात्र में टूट जाएगी। अरे, वीतरागभावरूप जिनभक्ति तो अन्दर के मोह और भव के बन्धन को क्षण में छिन्न-भिन्न कर देती है, तब बाहर के ताले टूट जाएँ – इसमें क्या आश्चर्य है? लोग तो बाहर के आश्चर्य में अटक जाते हैं और बाहर की आशा से भक्तामर आदि पढ़ते हैं परन्तु भाई! स्तुति का वास्तविक प्रयोजन तो अन्तर में अपने वीतरागभाव की वृद्धि हो – यह है। तू जिनकी स्तुति करता है, उन्होंने तो सम्पूर्ण राग को छोड़ दिया है; अतः उनकी स्तुति भी रागरहित भाव से ही सुशोभित होती है। भगवान और भक्त, दोनों के भावों में जितना सुमेल हो, उतनी साधकदशा है और वही परमार्थस्तवन है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, भक्तामर रहस्य